उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

UGSY-102
भारत में समाज

खण्ड – 1 : सामाजिक संरचना : ग्रामीण एवं शहरी		**3–30**
इकाई 1 :	एकता और विविधता	3
इकाई 2 :	ग्रामीण सामाजिक संरचना	10
इकाई 3 :	गाँव और बाहरी दुनियाँ	18
इकाई 4 :	शहरीकरण का स्वरूप	25
इकाई 5 :	शहरी सामाजिक संरचना	31
खण्ड – 2: परिवार विवाह और नातेदारी		**37**
इकाई 6 :	परिवार और उनके प्रकार	37
इकाई 7 :	विवाह और उसके बदलते स्वरूप	45
इकाई 8 :	नातेदारी–I	52
इकाई 9 :	नातेदारी–II	59
खण्ड – 3 : अर्थव्यवस्था एवं राज्यतंत्र		**66**
इकाई 10 :	ग्रामीण अर्थव्यवस्था	66
इकाई 11 :	शहरी अर्थव्यवस्था	74
इकाई 12 :	गरीबी : ग्रामीण और शहरी	81
इकाई 13 :	राष्ट्रीय राजनीति	88
इकाई 14 :	क्षेत्रीय एवं प्रादेशिक राजनीति	96

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय
उत्तर प्रदेश प्रयागराज

परामर्श समिति

पो. के.एन. सिंह (अध्यक्ष)	कुलपति उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
डॉ. ए.के. गुप्ता	कुलसचिव उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सम्पादक

प्रो. पी.एन. पाण्डेय	पूर्व विभागाध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग बी.एच.यू. वाराणसी

पाठ्यक्रम निमाण समिति (अध्ययन बोर्ड)

डॉ. एम.एन. सिंह	पूर्व निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
डॉ. इति तिवारी	पूर्व एसो. प्रोफेसर समाज विज्ञान विद्याशाखा उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
डॉ. रमेश चन्द्र यादव	शैक्षणिक परामर्शदाता, समाजशास्त्र, समाज विज्ञान विद्याशाखा उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

लेखक

श्री रमेश चन्द्र यादव	परामर्शदाता, समाजशास्त्र उ.प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
डॉ. इति तिवारी	पूर्व एसोसिएट प्रोफेसर, समाजशास्त्र उ.प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
डॉ. डी.के. सिंह	असि. प्रोफेसर, समाजशास्त्र बी.एच.यू. वाराणसी
डॉ. अनूप कुमार सिंह	वरिष्ठ सहायक आचार्य समाजशास्त्र डी.ए.वी.पी.जी. कालेज, कानपुर
डॉ. हसन बानो	असि. प्रोफेसर, समाजशास्त्र डी.ए.वी.पी.जी. कालेज, वाराणसी
डॉ. नेहा काला	असि. प्रोफेसर, समाजशास्त्र बी.एच.यू. वाराणसी

प्रकाशक

प्रथम संस्करण–2019 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

ISBN- 978-93-83328-39-0

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्यसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन : उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रकाशन : उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से कर्नल विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित 2025.

मुद्रक : चन्द्रकला यूनिवर्सल प्रा. लि. 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज.

इकाई –1
एकता और विविधता

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 एकता का अर्थ

1.3 विविधता का अर्थ

1.4 भारतीय समाज में विविधता

- 1.4.1 प्रजातीय विविधता
- 1.4.2 भाषायी विविधता
- 1.4.3 धार्मिक विविधता
- 1.4.4 जातिगत विविधता

1.5 भारतीय समाज में एकता

- 1.5.1 भौगोलिक एकता
- 1.5.2 धार्मिक एकता
- 1.5.3 सामाजिक–सांस्कृतिक एकता

1.6 सारांश

1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1.8 सम्बन्धित प्रश्न

- (अ) लघु उत्तरीय प्रश्न
- (ब) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
- (स) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.9 प्रश्नोत्तर

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप–

- ➢ भारत की भौगोलिक स्थिति को समझ सकेंगे।

- भारतीय समाज में विविधता के विभिन्न स्वरूपों से परिचित हो सकेंगे।
- विविधता में एकता के सूत्रों और उसके बनने की प्रक्रिया को समझ सकेंगे।
- सामाजिक एकीकरण में धर्म की भूमिका को समझ सकेंगे।
- भारत की सामाजिक–सांस्कृतिक एकता की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

भारत देश एक बहुल समाज है। यहां प्राचीनकाल से विविधता की परम्परा है। अनेक भाषाएं बोली जाती हैं और अनेकों संस्कृतियां हैं, तरह–तरह के लोग रहते हैं। यह विभिन्नता न केवल प्रजातीय संरचना, धार्मिक और भाषायी विभेदों के सन्दर्भ में पाई जाती है बल्कि जीवन प्रणालियों, भूमि व्यवस्थाओं, व्यवसायों, में भी पायी जाती है लेकिन इसके बावजूद भारतवर्ष एक है और इसकी सांस्कृतिक परम्परा में एक बुनियादी एकता है।

1.2 एकता का अर्थ

एकता का अर्थ है एकीकरण। यह एक मामाजिक मनर्विज्ञानिक स्थिति है। यह एक होने को भावना, 'हम एक हैं' को व्यक्त करता है। यह उस कहां का पयार्य है जो ममाज के सदस्यों को एक साथ जोड़ कर रखती है। एकता और एकरूपता में कुछ अंतर है। एकरूपता में पहले से ही यह मान लिया जाता है कि समानता होगी ही, परन्तु एकता में ऐसा नहीं होता। इस प्रकार एकता एकरूपता पर आधारित भी हो सकती है और नहीं भी। एकता का जन्म एकरूपता से हो सकता है।

1.3 विविधता का अर्थ

सामान्यतः विविधता का तात्पर्य असमानता है। परन्तु हमारे उद्देश्य की पूर्ति के लिए इसका अर्थ असमानता के अलावा कुछ और भी है। इसका अर्थ है सामूहिक असमानता, अर्थात् ऐसी असमानता जिससे एक वर्ग के लोगों को दूसरे वर्ग के लोगों से अलग किया जा सके। यह असमानता किसी भी तरह की हो सकती है– जैविकीय, धार्मिक, भाषायी आदि। उदाहरणस्वरूप जैविक असमानता के कारण हममे प्रजातीय अंतर है। उसी प्रकार धार्मिक असमानता के आधार पर हममें धार्मिक विविधता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि विविधता सामूहिक असमानता की ओर संकेत करती है।

विविधता शब्द एकरूपता के प्रतिकूल है। एकरूपता का अर्थ किसी विशेष प्रकार की समरूपता से है जो सम्पूर्ण समूह की विशेषता होती है।

'यूनि' (Uni) का अर्थ एक होता है, एवं फार्म (Form) या रूप का तात्पर्य सामान्य व्यवहार से है। अतः जब सभी व्यक्तियों में कोई चीज सामान्य हो जाती है तब हम उसे एकरूपता दशानि वाली कह सकते हैं। जब एक विद्यालय के छात्र, पुलिस बल के सदस्य या सैन्य बल एक ही प्रकार के बस्त्र धारण करते हैं तब हम कह सकते हैं कि वे सभी यूनिफार्म में हैं। एकरूपता भी, विविधता के समान हो, एक सामूहिक संकल्पना है। जब व्यक्तियों का एक समूह समान विशेषताओं से युक्त हो, चाहे यह भाषा, धर्म या किसी और

आधार पर हो, वह उस संदर्भ में एकरूपता का परिचायक है। परन्तु जब हमार ब्रोच व्यक्तियों के एयं ममूर हो जो अलग–अन्नग प्रजातियों धर्मों और संस्कृतियों से जुड़े हों, तब वे विविधता का प्रतिनिधित्व करेंगे।

इस तरह विविधता का अर्थ है विभिन्नता। सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए इसका अर्थ मनहरों और संस्कृतियों की विविधता से है। भारत में ऐसी विभिन्नताओं की बहुलता है। हमारे यहां प्रजातियों, धर्मों, भाषा आं. जातियों और संस्कृतियों की विविधता है। यही कारण है कि भारत अपनी सामाजिक–सांस्कृतिक विविधता के लिए प्रसिद्ध है।

1.4 भारतीय समाज में विविधता

भारतीय समाज में विभिन्न प्रकार की विविधताएं पायी जाती हैं। इसमें से कुछ महत्वपूर्ण प्रकार प्रजातीय, भाषायी, धार्मिक, आर्थिक और जाति पर आधारित हैं। जहां विभिन्न संस्कृतियों और परंपराओं का सह–अस्तित्व एक साथ होता है–

1.4.1 प्रजातीय विविधता

आनुवंशिक शारीरिक लक्षणों के आधार पर पहचाने जा सकने वाले विशाल व्यक्तियों के समूह को प्रजाति कहते हैं। मजूमदार ने भारत को प्रजातियों का अजायबघर कहा है। यहां अनेक प्रजातियों के लोग रहते हैं। पूर्वी भारत में मंगोल प्रजाति के लोग निवास करते हैं। दक्षिण भारत में द्रविड़ प्रजाति के लोगों का निवास स्थान है। विभिन्न प्रजातियों को आधार बनाते हुए हरबर्ट रिजले ने भारत के लोगों को सात प्रजातियों में बांटा है– 1.तुर्क–ईरानी, 2.भारतीय आर्य, 3.शक द्रविड़, 4.आर्य द्रविड़, 5.मंगोल द्रविड़, 6. मंगोल, 7. दविड़। जे0एच0 हट्टन भारत की मूल प्रजाति नीग्रिटों को मानते हैं और 6 प्रजाति समूहों–नीग्रिटों, मंगोलायड, आस्ट्रेलायड, भूमध्य सागरीय, अल्पाइन, तुर्की इरानी का उल्लेख करते हैं।

1.4.2 भाषायी विविधता

भारत में अनेक भाषाएं बोली जाती हैं। ग्रियर्सन का कहना है कि 179 भाषाएं और 544 लोक भाषाएं यहां बोली जाती है, किन्तु इस अनुमान को अधिकृत नहीं मान सकते क्योंकि भाषाओं के अन्तर्गत लोक बोलियों की गिनती भी की जाती है। भारतीय संविधान के अनुसार पन्द्रह मान्य भाषाएं हैं। ये संवैधानिक मान्यता प्राप्त भाषाएं दो भाषा परिवारों की हैं– भारतीय आर्य और द्रविड़। मलयालम, कन्नड़, तमिल और तेलगू चार प्रमुख द्रविड़ भाषाएं हैं। आर्य परिवार की भाषाएं भारत की कुल जनसंख्या के 75 प्रतिशत व्यक्तियों द्वारा बोली जाती हैं जबकि द्रविड़ परिवार की भाषाएं 20 प्रतिशत जनसंख्या द्वारा बोली जाती है।

भारत की राष्ट्रीय एकता को जिस गम्भीर संकट से चुनौती मिली है वह भाषा की समस्या नहीं है। मूलतः समस्त भाषाएं एक ही उद्गम स्थल 'संस्कृत' की उपज हैं। बहुत से शब्द सभी भाषाओं से मिलते–जुलते हैं। दक्षिण भारत में मलयालम, तमिल, तेलगू, कन्नड़ इत्यादि भी संस्कृत की उपज हैं। परन्तु भौगोलिक विभिन्नता की वजह से उनका रूप हिन्दी से बहुत कुछ बदल गया है। एक भाषा ने दूसरी भाषा पर प्रभाव अवश्य डाला है पर हस्तक्षेप की कोशिश नहीं की। राज्य द्वारा सभी को समान रूप से विकास करने के अवसर दिये गये हैं।

यद्यपि संकुचित लोगों ने भाषा को अपनी स्वार्थ पूर्ति का साधन बनाया है तथापि सामाजिक जीवन के किसी क्षेत्र में इसकी भूमिका को कम महत्व नहीं दिया जा सकता। यह संजातीयता और क्षेत्र की तरह सामूहिकता का आधार बनी हुई है। द्रविड़ दक्षिण भारत की भाषा रही है पर इसके उदाहरण बलूचिस्तान में भी मिलते हैं। बिहार के आदिवासी ओरांव की भाषा द्रविड़ से मिलती–जुलती है। यह इस बात का प्रमाण है कि द्रविड़ भाषा–भाषी लोग कभी सारे भारत में फैले हुए थे। मुस्लिम भी फारसी भाषी थे परन्तु वे भी तत्कालीन प्रचलित बोलियोंसे प्रभावित हुए तथा बाद में हिन्दू भी मुस्लिम भाषा सीखने लगे तथा उनकी भाषा में भी फारसी शब्द आने लगे।

1.4.3 धार्मिक विविधता

भारतीय समाज में धर्म एक जटिल तथ्य है। यहां हिन्दू, मुस्लिम, इसाई, सिख, बौद्ध, जैन और अन्य धर्म और सम्प्रदाय के लोग पाये जाते हैं। प्रत्येक धर्म में अनेक धार्मिक सम्प्रदाय हैं। उदाहरणार्थ हिन्दू धर्म में कई सम्प्रदाय शैव, शाक्त और वैष्णव हैं। इनके अलावा धार्मिक आन्दोलनों से कुछ सम्प्रदायों का उद्भव हुआ है जैसे हिन्दुओं में आर्य समाज, ब्रह्म समाज आदि। इसी प्रकार इस्लाम धर्म में शिया और सुन्नी, सिक्ख धर्म में नामधारी और निरंकारी, जैनों में दिगम्बर व श्वेतांबर हैं। बौद्ध धर्म हीनयान व महायान में बंटे हुए हैं। शैक्षणिक संस्थाओं के नाम भी हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, जैन, सिक्ख धर्मों से जुड़े हुए हैं। राजनीति में भी अनेक धार्मिक समूह सक्रिय हैं।

1.4.4 जातिगत विविधता

भारतीय समाज की एक महत्वपूर्ण विशेषता जाति व्यवस्था है। इसका प्रचलन केवल हिन्दुओं तक ही सीमित नहीं है बल्कि जातिगत विचारों की मान्यता मुस्लिम, ईसाई, सिक्ख जैसे अन्य समुदायों में भी पायी जाती है। मुस्लिमों में शेख, सैय्यद, पठान को देखा जा सकता है। भारत में एक बड़ी संख्या में हिन्दू धर्म परिवर्तन करके ईसाई बने हैं। अतः ईसाइयों में भी जातिगत भावना को कुछ सीमा तक देखा जा सकता है।

1.5 भारतीय समाज में एकता

भारतीय समाज में एकता का सम्बन्ध जीवन की एकरूपता तथा एकीकरण के कुछ अवयवों में पायी जाती है। इसे हम निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर समझ सकते हैं–

1.5.1 भौगोलिक एकता

भारत एक विशाल देश है जिसका फैलाव दक्षिण से उत्तर तक 3200 किलोमीटर हैं। भारत का पूर्णक्षेत्र पहाड़ो और समुद्र सहित 32,80, 483 वर्ग किलोमीटर है। पूरा क्षेत्र एक ही इकाई जैसा प्रतीत होता है। देश में फैले हुए धार्मिक केन्द्रों से भी भारत की भौगोलिक एकता को बल मिलता है। हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई और अन्य धर्मावलम्बी पूरे देश में फैले हुए हैं। इन धर्मों के अनुयायी एक स्थान, शहर, गांव और पड़ोस में एक साथ रहते हैं और एक–दूसरे के त्यौहारों और अन्य सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवसरों पर अभिवादन करते हैं। राजनैतिक क्रियाओं में वे सहभागी रहते हैं। एक समान कानून और प्रशासनिक व्यवस्था द्वारा भी भारत की भौगोलिक एकता को बनाए रखा गया है।

1.5.2 धार्मिक एकता

भारत अनेक धर्मों का देश है और धार्मिक बहुलता हमारे सामाजिक जीवन की सच्चाई है। धार्मिक असहिष्णुता और कट्टरपन की चुनौती का सामना करने के लिए ही धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त को अपनाया गया है। धर्म निरपेक्षता का सम्बन्ध लौकिक विषयों से है। इसका क्षेत्र सांसारिक है। इसी का परिणाम है कि होली, दीवाली, दशहरा, ईद, क्रिस्मस आदि अनेक अवसरों पर शहरों में हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई एक–दूसरे के साथ मिलकर त्योहार मनाते हैं। ग्रामीण स्तर पर भी विभिन्न धार्मिक समूहों में सम्बन्ध होता है। वह एक–दूसरे का सहयोग करते हैं। धार्मिक समुदायों और उनके व्यवसायों और धन्धों में सम्बन्ध होता है। अपने धन्धों को वे धर्म मानकर करते हैं और देश के आर्थिक विकास में योगदान देते हैं।

भारत में बहुसंख्यकों द्वारा अपनाएं गए हिन्दू धर्म में लचीलापन देखने को मिलता है। हिन्दुओं में एक ही देवता, एक धर्म ग्रंथ नहीं है बल्कि इसे कई विश्वासों के एक संघ के रूप में माना जा सकता है। अपनी बहुदेववादी विशेषताओं के कारण इसमें ग्राम स्तर के देवी–देवताओं और जनजातियों के विश्वासों को भी स्थान दिया गया है। अलग–अलग धर्मों तथा मतों को मानने वालों के सह–अस्तित्व की क्रियाविधि यहां वर्षों से विद्यमान है। उदाहरण के लिए हिन्दू–मुस्लिम एकता को ही ले। इनके बीच उत्सवों तथा आर्थिक क्रिया कलाप का सहयोग आज भी देखा जा सकता है। कबीर जैसे सन्त ने दोनों धर्मों को एक समान बताया। अंग्रेजों के समय में भी हिन्दू, मुसलमान एवं विभिन्न धर्मावलम्बी सांस्कृतिक एकता के कारण ही एक राष्ट्र होकर अंग्रेजों के विरूद्ध लड़ते रहे। बहादुरशाह को हटाया जाना जितना बुरा मुसलमानों को लगा उतना ही हिन्दुओं को भी। खान अब्दुल गफ्फार खान, मौलान आजाद का नाम आज भी महात्मा गान्धी के साथ लिया जाता है।

1.5.3 सामाजिक–सांस्कृतिक एकता

भारतीय संस्कृति सदैव समन्वयवादी एवं सहनशील रही है। भारत के समग्र इतिहास में दो परस्पर विरोधी शक्तियां काम करती रही हैं। एक शक्ति विभाजन को प्रोत्साहन देती हैं तो दूसरी समन्वय और सामंजस्य पैदा करने का प्रयत्न करती है। भारतीय संस्कृति का आधार यह द्वितीय पक्ष ही है। संस्कृति की इसी विशेषता की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए सी0एम0 जोड ने कहा है कि ''मानव जाति को भारतवासियों ने जो सबसे बड़ी चीज वरदान के रूप में दी है, वह यह है कि भारतवासी हमेशा ही अनेक जातियों के लोगों और अनेक प्रकार के विचारों के बीच समन्वय स्थापित करने को तैयार रहे हैं। विविधताओं के बीच एकता कायम करने की उनकी लियाकत लाजबाव रही है।''

मैक्समूलर और रोमांरोला ने भी अपने ग्रन्थों में इसी विशेषता की ओर इंगित करते हुए कहा है कि धर्म, कर्म और जाति सामाजिक स्तरीकरण के सोपानीय रूप में भारतीय संस्कृति की मुख्य धारणाएं हैं जो इसे अद्वितीय बना देती हैं। इन तत्वों के संरूपण और मतैक्य के कारण भारतीय समाज में सन्तुलन और स्थायित्व दृढ़ हो सका है और उसकी संस्कृति में कोई मुख्य व्यवधान उत्पन्न नहीं हुआ है। सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रवृत्तियां, आत्मसात और सात्मीकरण की प्रक्रियाएं भी भारतीय संस्कृति में दिखलाई देती हैं। आर्य और द्रविड़ एक साथ रहें। हिन्दू और मुस्लिम सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में एक–दूसरे के समीप रहते चले आये हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारत में अत्यधिक विभिन्नता में भी निरन्तर एकता पाई जाती रही है।

भारत के कई भागों में हमें विभाजक प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं। उदाहरण के लिए एक छोर पर बहुत धनी, उच्च जाति और उच्च वर्ग के लोग है और दूसरी ओर अत्यधिक निर्धन, निम्न जाति व निम्न वर्ग के लोग हैं। विभिन्न जातियों, धर्मों, क्षेत्रों और भाषाओं से सम्बन्ध समूह पूरे देश में फैले हुए हैं। इन समूहों के भी सदस्यों को समान अवसर व पहुँच प्राप्त नहीं है। जीवन में इस प्रकार के असमान अवसरों की जड़े समाज द्वारा संरचित असमानताएँ हैं और इनके कारण तनाव, पारस्परिक अविश्वास पाया जाता है। इन असमानताओं को दूर करने के लिए आर्थिक और सामाजिक विकास के ऐसे कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं जिनसेसमाज के दुर्बल वर्गों की आवश्यकताएं पूरी हो सकें और धार्मिक तथा भाषायी कट्टरता जैसे दूषित तथा अलगाववादी तत्वों को बढ़ावा न मिल सके तथा राष्ट्रीय एकीकरण का मार्ग प्रशस्त हो सके।

1.6 सारांश

इन इकाई के अध्ययन से आपको स्पष्ट हुआ होगा कि भारत में प्राचीनकाल से विविधता की परम्परा है। यहां अनेकों संस्कृतियां हैं और तरह–तरह के लोग रहते हैं लेकिन इसके बावजूद भारतवर्ष एक है। विविधता ही उसकी शक्ति है। भाषा की विविधता से डरने की जरूरत नहीं है। विभिन्न संस्कृतियों और भाषाओं के बीच एक मूलभूत एकता है। आज भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है। इसका एक संविधान है, और सब लोगों के लिए जो विभिन्न क्षेत्रों में विश्वास रखते हैं– एक ही विधि का शासन है। आज हिन्दू, सिक्ख, जैन, ईसाई और अन्य धर्मों के लोग प्रशासन, राजनीति और राजनैतिक जीवन में सहभागी हैं। संजातीय, भाषायी और धार्मिक विविधताएं सामान्य और राष्ट्रीय उद्देश्यों की प्राप्ति में बाधक नहीं हैं। समय व्यतीत होने के साथ यह एकता और मजबूत होती जायेगी।

1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

- बोस, एन0के0, (1967)– कल्चर एण्ड सोसायटी इन इंडिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बाम्बे।
- कोठारी, रजनी (1970)– पोलिटिक्स इन इंडिया, ओरियन्ट लौग मैन लिमिटेड, नई दिल्ली।
- सिंह, योगेन्द्र (1973) मॉडर्नाइजेशन ऑफ इन्डियन ट्रेडिशन, दि थाम्पसन प्रेस, नयी दिल्ली।
- श्रीनिवास, एम0एन0 (1969)– सोशल स्ट्रक्चर; पब्लिकेशन्स डिवीजन : मिमियोग्राफ, नई दिल्ली।
- योजना, जनवरी 26, अंक 23 एवं 24, (1987) सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली।

1.8 सम्बन्धित प्रश्न

(अ) लघु उत्तरीय प्रश्न

1. प्रजाति क्या है?
2. भारतीय समाज में एकता के मुख्य कारक क्या है?
3. भारतीय सामाजिक संरचना में किन धर्मों का अस्तित्व है?

(ब) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. भारत की विभिन्नता में एकता और एकता में विभिन्नता को समझाइए।

2. वर्तमान में भारत की एकता को किन शक्तियों से खतरा बना हुआ है?

3. भारतीय समाज में धर्म की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

(स) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. रिजले ने भारतीय समाज को कितनी प्रजातियों में बांटा है?

(अ) 5 (ब) 6

(स) 7 (द) 8

2. भारत का क्षेत्रफल कितना वर्ग कि0मी0 है?

(अ) 32,80, 483 (ब) 3050 444

(स) 5032,325 (द) 41, 63.646

3. 'पोलिटिक्स इन इडिया' के लेखक कौन हैं?

(अ) एन0के0 बोस (ब) योगेन्द्र सिंह

(स) रजनी कोठारी (द) एम0एन0 श्रीनिवास

4. जे0एच0 हट्टन के अनुसार भारतवर्ष की प्राचीनतम प्रजाति थी–

(अ) नार्डिक (ब) नीग्रिटो

(स) मंगोलायड (द) प्रोटो–आस्ट्रोलायड

प्रजाति की अवधारणा है–

(अ) प्राणिशास्त्रीय (ब) सामाजिक

(स) धार्मिक (द) राजनीतिक

'भारत प्रजातियों का अजायबघर' है।' यह कथन किसका है?

(अ) फ्रेजर (ब) मैलिनोवस्की

(स) आर0के0 मुखर्जी (द) डी0एन0 मजूमदार

1.9 प्रश्नोत्तर

1. (स) 2. (अ) 3. (स)

4. (ब) 5. (अ) 6. (द)

इकाई –2
ग्रामीण सामाजिक संरचना

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 भारतीय ग्रामीण सामाजिक संरचना

2.3 ग्राम और निवास पद्धति

2.4 पारिवारिक संरचना

2.4.1 ग्रामीण भारत में परिवार

2.4.2 परिवार में परिवर्तन

2.5 ग्रामीण भारत में नातेदारी

2.6 जाति–समूह

2.6.1 उप जाति

2.6.2 जाति व्यवस्था में परिवर्तन

2.7 जजमानी व्यवस्था

2.8 ग्राम पंचायतें

2.9 सारांश

2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

2.11 सम्बन्धित प्रश्न

(अ) लघु उत्तरीय प्रश्न

(ब) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(स) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

2.12 प्रश्नोत्तर

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप–

- भारतीय ग्रामीण संरचना के आधारों को जान सकेंगे।

- ग्रामीण संरचना में जाति की भूमिका को समझ सकेंगे।
- ग्रामीण व्यवस्था में होने वाले महत्वपूर्ण परिवर्तनों की व्याख्या कर सकेंगे।
- भारतीय गांवों की प्रकृति और उसमें होने वाले परिवर्तनों के कारणों को ज्ञात कर सकेंगे।
- जजमानी व्यवस्था के स्वरूप को समझ सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

ग्रामीण सामाजिक संरचना के अन्तर्गत भारतीय संयुक्त परिवार, विवाह, नातेदारी और जाति व्यवस्था का वर्णन किया जायेगा। ग्रामीण भारत में सामाजिक संरचना की क्या विशेषताएं हैं? ग्रामीण समाज की विविधताओं के मुख्य तत्व क्या हैं? जजमानी व्यवस्था ग्रामीण समाज में कैसे कार्य करती हैं? राजनैतिक व्यवस्था का क्या स्वरूप है? इसमें आजादी के बाद क्या परिवर्तन आये हैं? इन सभी तथ्यों की जानकारी इस इकाई में दी जायेगी।

2.2 भारतीय ग्रामीण सामाजिक संरचना

भारत में ग्रामीण सामाजिक संरचना का अध्ययन अनेक ग्रामीण समाजशास्त्रियों द्वारा किया गया है। एस0सी0 दूबे, एम0एन0 श्रीनिवास, डी0एन0 मजूमदार, वी0आर0 चौहान, मैकिम मैरियट, सिंगर तथा रावर्ट रेडफील्ड के नाम इन विद्वानों में उल्लेखनीय हैं। इन लोगों ने ग्रामीण सामाजिक संरचना का उल्लेख करने के लिए गांव के बसाव, परिवार, नातेदारी, जाति, जजमानी व्यवस्था, धर्म, शिक्षा, अर्थव्यवस्था और पंचायतों आदि का वर्णन किया है। इनमें तीन प्रमुख आधार गांव, जाति और संयुक्त परिवार है। इन तीनों ने न केवल विदेशी आक्रमण और आंतरिक विरोधाभाषों से उत्पन्न आघातों को झेला बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों की ताकतों को आत्मसात किया है और सामने आई आवश्यकताओं और चेतावनियों के अनुसार अपने आपको ढाल भी लिया है।

भारतीय गाँवों की सामाजिक संरचना की प्रकृति को समझने के लिये गाँयों के आंतरिक सम्बन्धों, समूहों तथा समुदायों को समझना होगा तथा ग्रामीण सामाजिक संरचना की स्थायी इकाइयों का अध्ययन करना होगा।

श्यामाचरण दुबे का विचार है कि प्रत्येक भारतीय गॉव का एक इतिहास होता है, मूल्यों एवं विचारों की एक व्यवस्था होती है। अतः प्रत्येक गाँव को अन्तःग्रामीण संगठन के सन्दर्भ में देखा जाना चाहिये। भारतीय ग्रामीण संरचना को समझने के लिये गाँवों के विभिन्न हिस्सों का अध्ययन

ग्रामीण और शहरी जीवन के कुछ समान पक्ष होते हैं। ये एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। दोनों के इस पोर्टफोलियो में कुछ ऐसी विशेषताएँ भी हैं जो आकार, संस्कृति, जीवन यापन पद्धति, उद्योग, रोजगार और सामाजिक संबंधों के सन्दर्भ में एक दूसरे को अलग करती हैं। बाटोमोर के अनुसार सामाजिक संरचना को मुख्य पोर्टफोलियो और लचीलेपन के रूप में समझा जा सकता है। इन टेलीकॉम और प्लास्टिक को पहचानना भी मुश्किल नहीं है, क्योंकि हर समाज की कुछ क्रियाशील शर्त (कार्यात्मक पूर्वावश्यकता) होती है।

2.3 ग्राम और निवास पद्धति

भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में तीन प्रकार की निवास पद्धति पायी जाती है। इसमें सर्वाधिक प्रचलित निवास पद्धति केन्द्रित गांवों की है जो पूरे देश में पायी जाती है। इनमें घरों के सघन समूह होते हैं। दूसरी निवास पद्धति कतारों में बसे गाँव में होते हैं जो केरल, कोंकण और डेल्टा क्षेत्र में होते हैं। ऐसी बस्तियों में मकान कतारों में बने होते हैं जिनमें से प्रत्येक मकान अपनी ही चारदीवारी से घिरा होता है। तीसरा बसाव निवास–व्यवस्था में वास–भूमि क्षेत्रों का फैलाव दो या तीन घरों का समूह मात्र होता है। इन गांवों के मध्य भौतिक सीमाएं स्पष्ट नहीं होती हैं, जैसे पहाड़ी या हिमालय के भारतीय समाज के गांवों में निचली पहाड़ी–क्षेत्र। भारतीय समाज के गांवों में प्राचीन समय से ग्रामीण संस्थाएं विद्यमान हैं। जैसे परिवार, नातेदारी, जाति आदि। ये संस्थाएं ग्रामीण जनता के जीवन के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक पहलुओं को अपने में समेटे हुए हैं।

2.4 पारिवारिक संरचना

परिवार एक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था है। यह प्राथमिक समूह है। अधिकतर पितृसत्तात्मक परिवार भारत में पाये जाते हैं। कुछ जन जातियों में मातृसत्तात्मक परिवार भी देखने को मिलता है। आगे ग्रामीण पारिवारिक संरचना की चर्चा की जा रही है।

2.4.1 ग्रामीण भारत में परिवार

ग्रामीण समाज के निर्माण में परिवार का महत्वपूर्ण स्थान है। यह ग्रामीण समाज की आवश्यकताओं को पूरा करता है और प्रजनन, उत्पादन, और सामाजीकरण जैसे प्रकार्यों को निभाता है। ग्रामीण समाज में मुख्यतः संयुक्त परिवार पाया जाता है। संयुक्त या विस्तृत परिवार में परिवार के सभी सदस्य इसके अलावा कुछ सगे–सम्बंधी शामिल होते हैं। परिवार की संयुक्तता के महत्वपूर्ण आयाम सह–निवास, संयुक्त रसोई, सहभागिता, सम्पत्ति में सभी का हिस्सा, पीढ़ी की गहराई (लगभग तीन पीढ़ियां) होती है। कुछ नाभिकीय परिवार भी पाये जाते हैं जिसमें माता–पिता और उनके बच्चे आते हैं।

भारत में ग्रामीण परिवार आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं राजनैतिक संस्थाओं का भी कार्य करता है। सामाजिक जीवन में परिवार के सामूहिक पक्ष पर बल दिया जाता है एवं व्यक्तिवाद की भावना और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की सम्भावना सीमित रहती है। परिवार का वरिष्ठ व्यक्ति ही प्रायः मुखिया का दायित्व निभाता हैं।

2.4.2 परिवार में परिवर्तन

भारत में बढ़ते औद्योगीकरण, नगरीकरण, प्रौद्योगिक उन्नति, संचार के वृहद साधन, आधुनिक शिक्षा और नवीन अधिनियमों के कारण परिवार की संरचना एवं प्रकार्यों में परिवर्तन आ रहा है। यह प्रभाव ग्रामीण परिवारों में देखा जा सकता है। इस परिवर्तन की प्रक्रिया को समझने के लिए आई0पी0 देसाई, एस0सी0 दूबे, टी0एन मदन, एम0एस0 गोरे, कोलिन्डा तथा अन्य समाजशास्त्रियों ने अध्ययन किया है। उनका मानना है कि भारत में संयुक्त परिवार टूटते जा रहे हैं। उसका स्थान दूसरे औपचारिक संगठन ले रहे हैं। परिवार में राज्य की प्रभुता का विस्तार हो रहा है। रक्त सम्बन्धों का महत्व कम हो रहा है। स्त्रियों,

बच्चों और युवकों की स्थिति में परिवर्तन हो रहा है। पारिवारिक मनोरंजन में कमी और परिवार के आकार में परिवर्तन हो रहा है। ग्रामीण अन्ध विश्वासों एवं रूढ़ियों में कमी हो रही है। ग्रामीणों को अपना विकास स्वतः करने की प्रेरणा मिल रही है। लेकिन परिवर्तनों ने कुछ विषम परिस्थितियों को भी जन्म दिया है। सम्पत्ति विभाजन को लेकर संघर्ष की मात्रा में वृद्धि तथा प्रथाओं, परम्पराओं एवं मूल्यों का प्रभाव कम हो जाने के कारण ग्रामीणों के व्यवहारों पर नियंत्रण में कमी भी देखने को मिल रही है।

2.5 ग्रामीण भारत में नातेदारी

ग्रामीण सामाजिक संरचना की सबसे छोटी इकाई व्यक्ति है जिसकी स्थिति का निर्धारण प्राथमिक रूप से उसके परिवार तथा नातेदारी व्यवस्था के आधार पर होता है। गांवों में विवाह दो व्यक्तियों का सम्बन्ध नहीं है बल्कि दो परिवारों का सम्बन्ध है। इसके फलस्वरूप गांव में नातेदारी व्यवस्था का महत्व किसी दूसरे समुदाय की तुलना में कहीं अधिक है। रक्त तथा विवाह से सम्बन्धित व्यक्ति एक–दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़े होते हैं। कठिनाई तथा अभाव के समय उनसे सहयोग आवश्यक समझा जाता है। रिश्ते–नातों की यह व्यवस्था वस्तुतः एक सांस्कृतिक व्यवस्था है। भारतीय ग्रामीण समाज में रक्त संबंधियों और विवाह के कारण आत्मीय रिश्तेदारों के अलावा एक घर में रहने वाले लोगों, पड़ोसियों सहपाठियों, सहकर्मियों, गुरुभाइयों आदि को भी स्वजनों में शामिल कर लिया जाता है।

रेडक्लिफ ब्राउन ने नातेदारी व्यवस्था को एक विधिक व्यवस्था के रूप में माना है, जिसको सामाजिक मान्यता प्राप्त है। उसमें वे नाते–रिश्तेदार सम्मिलित होते हैं जो विवाह अथवा रक्त सम्बन्धों द्वारा एक–दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। इनके अनुसार नातेदारी व्यवस्था में दो प्रकार की एकता पायी जाती है जिसे सहोदर एकता (Cousin Unity) तथा वंश एकता (Descent Unity) कहते हैं। रानी खेड़ा गांव के अध्ययन के आधार पर ग्रामीण सामाजिक संरचना में नातेदारी के महत्व को देखते हुए आस्कर लेविस ने इसे एक ऐसी व्यवस्था माना है जो गांव की सामाजिक स्थिति, उसकी शक्ति तथा सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को बहुत सीमा तक प्रभावित करती है।

2.6 जाति–समूह

हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का मुख्य आधार जाति व्यवस्था है। यह एक ऐसा सामाजिक समूह है, जिसकी सदस्यता जन्म पर आधारित होती है और जो अपने सदस्यों पर खान–पान, विवाह, पेशा और सामाजिक सहवास सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्ध लागू करता है। इस व्यवस्था में एक जाति में जन्मा मनुष्य जीवन पर्यन्त उसी में रहता है। हर जाति के सदस्यों का व्यवसाय वंश परंपरा के आधार पर अलग–अलग होता रहा है। जातियों के पद सोपान में एक जाति का एक निश्चित स्थान होता है जिससे ऊपर और नीचे अन्य जातियाँ होती हैं। सोपान के शिखर पर ब्राह्मण होते हैं और अधोभाग पर अछूत जातियाँ होती हैं। जातियों में खान–पान और सामाजिक अन्तःक्रिया के कुछ विशेष नियम होते हैं जिनका पालन सभी जातियों को करना पड़ता है। डॉ0 घुरिये ने जाति की निम्नलिखित छः विशेषताओं का उल्लेख किया है–

(i) समाज का खण्डात्मक विभाजन

(ii) संस्तरण

(iii) भोजन तथा सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध

(iv) नागरिक एवं धार्मिक निर्योग्यताएं एवं विशेषाधिकार

(v) पेशे के अप्रतिबन्धित चुनाव का अभाव

(vi) विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध

भारत में सम्पूर्ण सामाजिक जीवन आज किसी न किसी रूप में जाति व्यवस्था के द्वारा प्रभावित हैं, लेकिन नगरीय जीवन की तुलना में ग्रामीण सामाजिक संरचना जाति व्यवस्था से कहीं अधिक प्रभावित है। परिवर्तन की अनेक प्रक्रियाओं के पश्चात् भी सम्पूर्ण ग्रामीण जीवन तथा सभी ग्रामीण सामाजिक संस्थाएं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जाति व्यवस्था द्वारा प्रतिपादित आदेशों और निषेधों की स्थिरता को बहुत हद तक बनाये हुए है।

2.6.1 उप–जाति

उपजाति, जाति के अन्दर एक छोटी इकाई है। एक गांव में प्रायः एक ही उप–जाति होती है। अधिक संख्या में उप–जातियां का होना इस बात का द्योतक है कि ये जातियां वहां देर से बसी हैं। उप–जाति अंततः गांव की एक जाति का प्रतिनिधित्व करती हैं। एक उदाहरण महाराष्ट्र की कुम्हार जाति का है। उनमें अनेक समूह होते हैं, कुछ मिट्टी को तैयार कर बर्तन बनाने योग्य बनाते हैं तो कुछ चाक का इस्तेमाल करते हैं और कुछ बर्तन बेचने का कार्य करते हैं। यह तीनों ही अन्तर्विवाही समूह होते हैं। एक वृहद् जाति में कई स्तरों पर उपजातियों का बंटवारा होता है। उनमें भी निम्न–उच्च का स्तर पाया जाता है। उप–जाति एक सबसे छोटा अन्तर्विवाही समूह है जो पंचायतों जैसे तंत्रों द्वारा अपने सदस्यों के व्यवहार को पारंपरिक विधान में नियमित करता है।

2.6.2 जाति व्यवस्था में परिवर्तन

जाति व्यवस्था एक लम्बे समय तक ग्रामीण सामाजिक संरचना का सबसे महत्वपूर्ण आधार थी। समय के साथ इस संस्था में भी अब परिवर्तन के तत्व स्पष्ट होने लगे हैं। जाति व्यवस्था का राजनीतिकरण हो जाने के कारण इसे गुटवाद के साधन के रूप में देखा जाने लगा है। लेविस ने हत्या, दुराचार, भूमि, सम्पत्ति, सिंचाई जैसे अनेक कारकों का उल्लेख किया है जिनके कारण भारतीय ग्रामीण समुदाय में गुट समाज का रूप उभर रहा है। एक विशेष परिवर्तन यह भी हुआ है कि आज सैद्धान्तिक रूप से जाति व्यवस्था विद्यमान है लेकिन व्यावहारिक रूप से इससे सम्बन्धित आदेशों और निषेधों की प्रकृति में आमूल परिवर्तन हो चुके हैं। पैतृक और परम्परागत व्यवसाय की धारणाएं बदल चुकी हैं। अनेक निम्न जातियां अपने उन व्यवसायों को बदल रही हैं जिनका जजमानी व्यवस्था के अन्तर्गत विशेष महत्व था। ब्राह्मण अभी भी पुरोहित का कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त कहीं–कहीं उन्होंने खेती–बाड़ी व व्यवसाय करना शुरू कर दिया है। खान–पान अंतर्जातीय प्रतिबन्ध अभी जारी है परंतु उनकी पकड़ अब उतनी मजबूत नहीं रह गयी है। अस्पृश्यता का बंधन अब कमजोर पड़ गया है।

2.7 जजमानी व्यवस्था

जजमानी व्यवस्था भारत की ग्रामीण सामाजिक संरचना की एक प्रमुख विशेषता है। यह एक प्रकार की विनिमय प्रणाली है जिसमें वस्तु के बदले सेवा का विनिमय होता है। विलियम वाइजर प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने ग्रामीण भारत में इस प्रथा का उल्लेख किया है। इस व्यवस्था में सेवा प्राप्त करने वाले को 'यजमान' तथा सेवा प्रदान करने वाले को 'कमीन' कहा जाता है। इनके सम्बन्ध टिकाऊ एवं विशिष्ट होते हैं, जो पारिवारिक स्तर पर कार्य करते हैं। जैसे एक किसान परिवार खेती करता है तथा धात्विमक उपकरण लोहार से प्राप्त करता है और उसके बदले में वह फसल के समय किसान से अनाज का एक भाग हासिल करता है।

जजमानी सम्बन्ध बहु आयामी सम्बन्ध होता है। इसका दायरा आर्थिक तौर पर व्यापक है। दरअसल आर्थिक विनिमय जजमानी सम्बन्धों का केवल एक पक्ष है। इसलिए आश्रयदायी जातियों या कृषकों का कोई भी परिवार विशेष उत्सवों पर अधिकांश सहयोगियों से सहायता चाहता है जो कि जजमानी व्यवस्था से आये सम्पर्क में परिवारों से मिल जाती है। आश्रयदायी जातियों में भूमि पर मिल्कियत रखने वाली प्रभुत्वशाली जातियां होती हैं जैसे उत्तर भारत में राजपूत, भूमिहार और जाट तथा आन्ध्र प्रदेश में कम्मा, रेड्डी और लिंगायत। सेवा कर्मी जातियों में ब्राह्मण, नाई, बढ़ई, कहार, धोबी, मोची आदि हैं।

2.8 ग्राम पंचायतें

ग्राम पंचायतें केवल ग्रामीण शक्ति तथा नेतृत्व का ही आधार नहीं हैं बल्कि ग्रामीण सामाजिक संरचना को संगठित करने में भी इनका महत्वपूर्ण योगदान है। आज ग्राम पंचायतों का नये सिरे से संगठन किया जा चुका है जिसमें परम्परा तथा आधुनिकता दोनों का समावेश है। नई मतदान प्रणाली और आरक्षण के कारण विभिन्न जातियों तथा वर्गों के व्यक्तियों को गांव पंचायतों में प्रतिनिधित्व मिलने लगा है। ग्रामीण संरचना के अन्तर्गत अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों तथा विभिन्न समूहों के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्धारण करने में पंचायतें प्रभावपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। नवीन प्रशासनिक तथा राजनैतिक अधिकारों के कारण आज पंचायतें नेतृत्व तथा प्रजातांत्रिक प्रशिक्षण का केन्द्र बनी हुई हैं।

2.9 सारांश

उपर्युक्त इकाई में भारतीय ग्रामीण सामाजिक संरचना के विभिन्न आधारों जैसे गांव के बसाव, परिवार, नातेदारी, जाति, जजमानी व्यवस्था और ग्राम पंचायतों आदि का वर्णन किया गया है और यह स्पष्ट किया गया है कि किस तरह से नवीन शक्तियों के प्रभाव से ग्रामीण सामाजिक संरचना में परिवर्तन हुए हैं लेकिन इसके पश्चात् भी यह नहीं कहा जा सकता कि ग्रामीण संरचना पूर्णतया एक नवीन स्वरूप ग्रहण कर चुकी है। वास्तव में सभी ग्रामीण परिवर्तन एक छोटे से वर्ग तक ही सीमित है जबकि अधिकांश गांव आज भी परम्पराओं के समर्थक हैं तथा अपनी सामाजिक–सांस्कृतिक विशेषताओं में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहते। दूसरे शब्दों में ग्रामीण सामाजिक संरचना में आज भी परिवर्तन और सातत्य की प्रक्रियाएं साथ–साथ चल रही हैं।

2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

- बेतई, आन्द्रे (1965), कास्ट, क्लास एण्ड पावर, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, बाम्बे।
- घुर्ये, जी0एस0 (1950), कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया, पापुलर प्रकाशन, बाम्बे।
- देसाई, ए0आर0 (1969), रूरल सोशियोलाजी इन इण्डिया, पापुलर प्रकाशन, बाम्बे।
- श्रीनिवास, एम0एन0 (1978), इण्डियाज विलज़ेज, मीडिया प्रमोटर्स, मुम्बई।

2.11 सम्बन्धित प्रश्न

(अ) लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) जाति का अर्थ और विशेषताएं बताइये।

(2) ग्रामीण भारत में नातेदारी व्यवस्था को स्पष्ट कीजिए।

(3) जजमानी व्यवस्था क्या है?

(ब) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) भारतीय सामाजिक संरचना के अन्तर्गत ग्रामीण सामाजिक संरचना की व्याख्या कीजिए।

(2) भारतीय ग्रामीण संरचना में आये परिवर्तनों को स्पष्ट कीजिए।

(3) भारतीय ग्रामीण संरचना में जजमानी व्यवस्था तथा ग्राम पंचायतों की भूमिका को स्पष्ट कीजिए।

(स) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) 'कास्ट, क्लास एण्ड पावर' किसकी पुस्तक है।

(अ) आन्द्रे बेत्तई (ब) ए0आर0 देसाई

(स) जी0एस0 घुर्ये (द) हट्टन

(2) भारतीय गांवों में निम्नलिखित में से कौन सर्वथा महत्वहीन हो गया है?

(अ) युवकों के विवाह में अभिभावकों की इच्छा

(ब) जजमानी प्रथा

(स) प्रदत्त प्रस्थितियों के आधार पर सामाजिक स्थिति का निर्धारण

(द) जनप्रतिनिधियों के चुनाव में जातिगत भावना

(3) ग्रामीण भारत में जजमानी प्रथा का सर्वप्रथम उल्लेख कौन किया है?

(अ) आस्कर लेविस (ब) एम0एन0 श्रीनिवास

(स) विलियम वाइजर (द) एस0सी0 दूबे

(4) जाति प्रथा का मूलभूत अभिलक्षण है–

(अ) समानता (ब) खुलापन

(स) समान प्रस्थिति (द) पदानुक्रम

(5) जाति व्यवस्था के निम्नलिखित पक्षों में से कौन–सा अभी भी महत्वपूर्ण है?

(अ) अन्तर्विवाह (ब) धार्मिक व्यवहार

(स) जजमानी व्यवस्था (द) जाति पंचायत

(6) विवाह और नातेदारी के सम्बन्ध में रानीखेड़ा गांव का अध्ययन कौन किया है?

(अ) मैकिम मैरियट (ब) आस्कर लेविस

(स) एम0एन0 श्रीनिवास (द) आन्द्रे बेत्तई

(7) नातेदारी व्यवस्था आधारित है–

(अ) रक्त सम्बन्ध (ब) विवाह सम्बन्ध

(स) सामाजिक सम्बन्ध (द) सभी

2.12 प्रश्नोत्तर

(1) (अ) (2) (ब)

(3) (स) (4) (द)

(5) (अ) (6) (ब)

(7) (द)

इकाई –3
गांव और बाहरी दुनिया

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 गाँव और शहरी व्यवस्था

3.3 गाँव और शहरी सामाजिक संरचना

3.3.1 गाँव में जाति और नातेदारी

3.3.2 शहरों में जाति और नातेदारी

3.4 धार्मिक व्यवस्था

3.4.1 लघु परम्परा एवं वृहद परम्परा

3.4.2 वृहद परंपरा एवं लघु परंपरा के बीच अन्तःक्रिया

3.4.3 स्थानीयकरण

3.5 गांव की राजनीतिक व्यवस्था

3.5.1 स्वतन्त्रता पूर्व

3.5.2 स्वतन्त्रता बाद

3.5.3 आधुनिक भारत में गाँव

3.5.4 पाश्चात्य ग्रामीण जीवन

3.6 सारांश

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

3.8 सम्बन्धित प्रश्न

(अ) लघु उत्तरीय प्रश्न

(ब) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(स) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

3.9 प्रश्नोत्तर

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप–

- भारतीय गाँव व बाहरी दुनिया की संरचना को समझ सकेंगे।
- गाँव व शहरों में जाति तथा नातेदारी की स्थिति को जान सकेंगे।
- धार्मिक विश्वासों को गाँव व बाहरी दुनिया के सन्दर्भ में स्पष्ट कर सकेंगे।
- दोनों की राजनैतिक व्यवस्था से परिचित हो सकेंगे।
- आधुनिक भारत में गांवों में हो रहे परिवर्तनों को जान सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

इस इकाई में गाँव व बाहरी दुनियाँ को परस्पर सम्बन्धों की प्रक्रिया की व्याख्या की जायेगी। उनकी एक दूसरे से कैसी आर्थिक क्रियाएं होती हैं? यह दोनों आत्म निर्भर है या एक–दूसरे पर आश्रित हैं? इसकी व्याख्या इस इकाई में की जायेगी। ब्रिटिश कालीन व आधुनिक समय में भारतीय गाँवों में हो रहे परिवर्तनों की भी जानकारी आप प्राप्त करेंगे।

3.2 गांव और शहरी व्यवस्था

प्रारम्भिक मानव–समुदाय कदाचित कुछेक परिवारों के शिथिल रूप में संगठित संकलन थे जो भोजन इकट्ठा करने एवं शत्रुओं के विरूद्ध स्वयं को सुरक्षित रखने के लिए पारस्परिक अन्योन्याश्रित क्रियाएं करते थे। धीरे–धीरे मनुष्य ने कृषि का ज्ञान अर्जित किया। कृषि के विकास एवं उसके परिणामस्वरूप भोजन के स्रोत की स्थिरता से लोग स्थायी जीवन व्यतीत करने लगे और मानव समुदाय अधिक टिकाऊ हो गए। गाँव का जन्म हुआ जिसका अर्थ था कि मनुष्य ने सामूहिक जीवन के घुमक्कड़ प्रकार से निकलकर स्थायी जीवन में प्रवेश किया।

ग्रामवासियों में एकता की भावना होती है। ग्रामीण व्यक्तियों के मध्य सम्बन्धों की घनिष्ठता होती है। वे एक–दूसरे को वैयक्तिक रूप से जानते हैं। वहां संयुक्त परिवार पाया जाता है। गाँव के लोगों का धर्म, भाग्यवादिता एवं देवी–देवताओं में अटूट विश्वास होता है। जीवन सरल तथा अपेक्षाकृत स्थिर रहता है। कृषि मुख्य व्यवसाय रहता है।

नगर एक जीवन पद्धति है जो फैशनेबिल जीवन, वस्तुओं एवं व्यक्तियों की विस्तृत जानकारी एवं वाणी के राजनीतिक ढंग को इंगित करता है। नगरीय समुदाय का आकार बड़ा होता है। यहाँ जनसंख्या की विभिन्नता एवं उसका घनत्व अधिक होता है। व्यक्तियों के मध्य अपरिचयता एवं आर्थिक वर्ग विभाजन पायी जाता है। यहाँ के समाज में गतिशीलता की अधिकता व्यक्तिवादिता, प्रतिस्पद्धा तथा द्वैतीयक सम्बन्धों की प्रधानता होती है। जीवन तर्क प्रधान होता है।

3.3 गाँव और शहरी सामाजिक संरचना

गाँव और शहरी सामाजिक संरचना के अन्तर्गत इसमें जाति एवं नातेदारी का चर्चा की जायेगी

3.3.1 गाँव में जाति तथा नातेदारी

साधारणतया गाँव के अन्तर्गत व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध, जातिगत संस्तरण तथा जाति से सम्बन्धित मान्यताओं के आधार पर निर्धारित होते हैं। एक जाति–समूह की सामाजिक स्थिति दूसरे जाति–समूह की तुलना में ऊँची या नीची होती है। प्रत्येक जाति का व्यवसाय परम्परागत होता है। खान–पान के कठोर नियम होते हैं। पंचायतें सदस्यों के व्यवहारों पर नियंत्रण रखती है और कभी–कभी उन्हें दण्ड भी देती हैं। दूसरे समुदायों की तुलना में गांवों में नातेदारी व्यवस्था का अत्यधिक महत्व रहता है। रक्त तथा विवाह के आधार पर लोग एक–दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़े होते हैं। कठिनाई तथा अभाव के समय उनसे सहयोग आवश्यक समझा जाता है। अनेक परिस्थितियों में नातेदारी समूह के द्वारा व्यक्ति के व्यवहारों पर नियंत्रण भी रखा जाता है।

3.3.2 शहरों में जाति तथा नातेदारी

गाँव की तरह शहरों में जाति व्यवस्था सशक्त नहीं है। यहां भी जाति व्यवस्था पायी जाती है किन्तु इसके मूल्यों में बदलाव रहता है। जाति के मूल्य शिथिल होते हैं। किसी भी जाति का व्यक्ति कोई भी व्यवसाय कर सकता है। ग्रामों की अपेक्षा अधिक विजातीयता भी पायी जाती है। यहां अनेक प्रजातियों, जातियों एवं संस्कृतियों के लोगों को नगरों में देखा जा सकता है। उनके सदस्यों के विचार, व्यवसाय, वैयक्तिक गुण एवं उनका सांस्कृतिक जीवन ग्रामवासियों की अपेक्षा अलग तरह का रहता है। गाँवों में जहां परिवार एक शक्तिशाली केन्द्रक इकाई होती है वहीं नगरीय समुदाय में पारिवारिक जीवन के बंधन कठोर नहीं होते। पारिवारिक नियन्त्रण कम रहता है। पुलिस, कानून और न्यायालय की सहायता से सामाजिक नियंत्रण स्थापित किया जाता है।

3.4 धार्मिक व्यवस्था

ग्रामीण भारत में धर्म तथा कर्मकाण्डों के महत्व को ध्यान में रखते हुए अनेक अध्ययन किये गये हैं जिनके द्वारा धार्मिक तथा सांस्कृतिक जीवन से सम्बन्धित परिवर्तनों को स्पष्ट किया गया है। श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण तथा लौकिकीकरण जैसी प्रक्रियाओं की सहायता से सांस्कृतिक परिवर्तनों को स्पष्ट करने का प्रयास किया, लेकिन केवल इनके आधार पर ही सांस्कृतिक परिवर्तनों की व्याख्या नहीं की जा सकती। लघु एवं वृहद परम्पराओं का प्रसार बहुत बड़े क्षेत्र में होने के कारण इन्हें भी समझना आवश्यक होगा।

3.4.1 लघु परम्परा एवं वृहद परम्परा

राबर्ट रेडफील्ड के अनुसार ''धार्मिक अथवा सांस्कृतिक जीवन से सम्बन्धित यदि किसी परम्परा का मूल धर्म–ग्रन्थों से कोई सम्बन्ध न हो तथा वह परम्परा एक छोटे से क्षेत्र में प्रचलित हो और अधिकांश व्यक्ति उसके वास्तविक अर्थ को न समझते हों, तब ऐसी परम्परा को लघु परम्परा कहते हैं।'' लघु परम्परा के अन्तर्गत ऐसे सभी देवी–देवता, धार्मिक अनुष्ठान, त्यौहार, रीति–रिवाज, मेले, लोक गाथाएं तथा अन्य सांस्कृतिक तत्व आते हैं जिनका प्राचीन धर्म ग्रन्थों में न तो कोई उल्लेख होता है और न ही सम्बन्ध। यह

परम्परा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है। इसका प्रसार ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक रहता है।

मैकिम मैरियट के अनुसार, ''यदि कोई परम्परा प्राचीन धर्म–ग्रन्थों में बताये गये व्यवहारों के अनुरूप होती है तथा उसका प्रसार सम्पूर्ण समाज में होता है तो उसे हम वृहद कहते हैं।'' वृहद परम्पराएं नियमबद्ध होती हैं तथा उनका सम्बन्ध पवित्र ग्रन्थों से होता है, जैसे होली, दशहरा, दीपावली, रामनवमी आदि। राम, कृष्ण, लक्ष्मी, दुर्गा, हनुमान, विष्णु आदि देवी–देवता भी वृहद परम्परा के उदाहरण हैं।

3.4.2 वृहद एवं लघु परंपरा के बीच अन्तःक्रिया

लघु एवं वृहद परम्पराओं की प्रकृति एक–दूसरे से भिन्न होने के पश्चात् भी इनके बीच घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। वृहद परम्पराएं कभी भी पृथक और स्वतंत्र रूप से निर्मित नहीं होतीं बल्कि इनके विकास में लघु परमपराओं का योगदान रहता है। रेडफील्ड ने वाल्मीकि की चर्चा की है जिन्होंने रामायण की रचना की जिसे भारत में वृहद परम्परा के रूप में मान्यता दी जाती है। संस्कृत जैसी कठिन भाषा में होने के कारण तुलसीदास ने इसे क्षेत्रीय भाषा अवधी में परिवर्तित कर दिया। समय व्यतीत होने के साथ जब अवधी भी कठिन समझी जाने लगी तो इसका अनुवाद स्थानीय भाषाओं में होने लगा। इससे स्पष्ट होता है कि वृहद परम्परा किसी न किसी रूप में लघु समुदाय की विशेषता बन जाती है तथा नई परम्पराओं को जन्म देती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि केवल लघु परम्पराएं ही वृहद परम्पराओं से प्रभावित होती हैं, बल्कि वास्तविकता यह है कि वृहद परम्पराएं भी लघु परम्पराओं से अनेक तत्वों को ग्रहण करती हैं। लोकगीत एवं लोकनृत्यों का प्रदर्शन, शकुन–अपशकुन का विचार, ज्योतिषियों के विचार–विमर्श, तावीज पहनना आदि कृत्यों को जो लघु परम्पराओं के तत्व हैं उन्हें अखिल भारतीय स्तर पर देखा जा सकता है।

3.4.3 स्थानीयकरण

भारतीय समाज में लघु एवं वृहद परम्पराओं का मिश्रण देखने को मिलता है। मैकिम मैरियट ने उत्तर प्रदेश के अलीगढ़ जिले में किशनगढ़ी गांव के अध्ययन के आधार पर भारतीय समाज की धार्मिक जटिलता तथा लघु एवं वृहद परम्पराओं के बीच पायी जाने वाली अन्तःक्रिया को स्थानीयकरण की अवधारणा के द्वारा स्पष्ट किया है।

स्थानीयकरण में वृहद परम्परा के तत्वों का नीचे की ओर लघु परम्परा में शामिल होने की प्रक्रिया होती है। मैरियट ने लिखा है कि वृहद के रूप में भागवत पुराण में वर्णित गोवर्धन पूजा गोवर्धन पर्वत पर किए गये साहसिक कृत्य से शुरू हो गयी। किसनगढ़ी में इस पर्व ने कुछ घरेलू विवरण भी अपने में शामिल कर लिया है। यहां के लोगों ने गोवर्धन का अर्थ गो + वर्धन के रूप में न स्वीकार करके गोबर + धन (गोबर रूपी धन) के रूप में व्यक्त करना प्रारम्भ कर दिया है। इसलिए प्रत्येक घर की औरतें एवं बच्चें गोबर का एक छोटा पर्वत बनाते है और उसके ऊपर वृक्ष का प्रतिनिधित्व करने के लिए पुआल एवं सूत सजाते है। इस उदाहरण से हमें मालूम होता है कि ग्रामीण जीवन की अधिकांश परम्पराओं का सम्बन्ध प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से स्थानीकरण की प्रक्रिया से प्रभावित है।

3.5 गांव की राजनीतिक व्यवस्था

ग्रामीण समुदाय एक निश्चित भू–भाग पर रहने वाले किसी भी ऐसे छोटे या बड़े समूह हैं जिसमें जनसंख्या की समरूपता, सामाजिक एवं सांस्कृतिक समानता पायी जाती है। प्रकृति से इनकी सम्बद्धता होती है। सरलता एवं सामुदायिक भावना की प्रधानता होती है। फ्रांसीसी समाजशास्त्री लुई ड्यूमों ने ग्रामीण समुदाय शब्द के तीन अर्थ बतलाएं हैं प्रथम एक राजनैतिक समाज के रूप में, द्वितीय भूमि के सह–स्वामियों की एक इकाई के रूप में तथा तृतीय परम्परात्मक अर्थव्यवस्था और राजनैतिक व्यवस्था के प्रतीक के रूप में। इस मत के अनुसार भारत में गाँव भारत की राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था का अंग रहा है।

3.5.1 स्वतन्त्रता पूर्व

स्वतन्त्रता पूर्व भारत में राज्य या रियासत के साथ अपने सम्बन्धों के बारे में गाँव उदासीन नहीं थे। वे इस बात को लेकर जागरूक थे कि उन पर शासन कौन कर रहा है। वे उस राजा को ज्यादा पसंद करते थे जो उनको ठगों और लूटमारों से सुरक्षा करता था। ब्रिटिश शासन ने गांव और शासक के बीच के संबंध को बदल दिया। राजनीतिक आधिपत्य के बाद संचार–साधनों के विकास का दौर प्रारम्भ हुआ। पुलिस, राजस्व अधिकारी, जैसे सरकारी अधिकारी की नियुक्ति गांवों में भी की गई। इसके परिणामस्वरूप गाँव–पंचायत के अधिकारों में काफी कमी आई।

3.5.2 स्वतन्त्रता बाद

स्वतन्त्रता के बाद भारतीय गाँव में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। नवीन राजनैतिक व्यवस्था के कारण नये ग्रामीण नेतृत्व का प्रादुर्भाव हुआ है। जाति व्यवस्था के अन्तर्गत जाति पंचायत का महत्व कम हो गया है। ग्राम सभा का गठन किया गया है। अर्न्तजातीय अन्तःनिर्भरता घट गई है। तनाव बढ़ गये हैं और गांव के साधनों में अधिकतम हिस्सा प्राप्त करने के लिए विभिन्न जातियों में प्रतियोगिता बढ़ गयी है। जाति को ध्यान में रखते हुए पंचायत चुनावों में लोग मतदान करते हैं। जातियां एक प्रकार से स्वार्थ समूह बन गयी हैं। गांव पंचायतों तथा ग्रामीण नेतृत्व में निम्न जातियों का प्रतिनिधित्व बढ़ने लगा है। ग्रामीण जीवन शान्त, स्थिर और बहुत सरल नहीं रह गया है। राजनीतिक प्रभावों के कारण ग्रामीण समुदाय में भी गुटबन्दी और वैमनस्य की समस्या ने गम्भीर रूप धारण कर लिया है। ग्रामीण नेतृत्व का भी एक ऐसा स्वरूप विकसित हुआ है जो वैयक्तिक एवं राजनीतिक लाभ से प्रेरित हैं।

3.5.3 आधुनिक भारत में गाँव

आधुनिक भारत में गांव के लोग ग्राम–पंचायत जैसी स्थानीय निकायों के सदस्यों के चुनाव के साथ–साथ राज्य विधान सभा और संसद–सदस्यों के चुनाव में भी भाग लेते हैं। क्षेत्रीय और राष्ट्रीय राजनीतिक दल गांव में भी सक्रिय हो गये हैं और वे अपने दल का प्रचार एवं उसके पक्ष में समर्थन पाने के लिए लोगों के बीच प्रचार करते देखे जा सकते हैं। आज गाँव एक राजनीतिक इकाई है जिसमें रोजमर्रा के मामलों में प्रशासन करने के लिए निर्वाचित पंचायत होती है जो जिला प्रशासन का एक भाग है। राजनीतिक व्यवस्था के इन अलग–अलग स्तरों में परस्पर अन्तःक्रिया होती रहती है।

3.5.4 पाश्चात्य ग्रामीण जीवन

पश्चिम में गांवों का आकार भारत की तुलना में अपेक्षाकृत बड़ा होता है। देश की कुल जनसंख्या का एक छोटा भाग ही गाँवों में निवास करता है। केन्द्रक परिवार उनके ग्रामीण जीवन की विशेषता होती है। बड़े किसान छोटे किसानों से दूरी रखते हैं। उनके आवास छिटके हुए तथा विकेन्द्रित होते हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पूंजीवाद का प्रभाव रहता है। नियंत्रण का स्वरूप औपचारिक तथा देश की राजनीति एवं विदेशी मामलों में लोग शहरी रूचि रखते हैं। इसके कारण उनके जीवन में एकाकीपन का अभाव रहता है। लोग परिवर्तनों का उत्साहपूर्वक स्वागत करते हैं।

3.6 सारांश

इस इकाई में आपने ग्रामीण जीवन की विशेषताओं, ग्रामीण–शहरी सामाजिक संरचना, धार्मिक व्यवस्था, पाश्चात्य ग्रामीण जीवन आदि को देखा और यह जान लिया होगा कि किस तरह भारतीय गाँव संक्रमण–काल से गुजर रहे हैं। प्राचीन सामाजिक सम्बन्ध, बन्धन संयुक्त परिवार और नातेदारी व्यवस्था समाप्त हो रही है। सामुदायिक चेतना धीरे–धीरे लुप्त हो रही है। देश की राजनीति ने ग्रामवासियों के शांतिपूर्ण जीवन में प्रवेश कर किस तरह उन्हें राजनीतिक गुटों में विभक्त कर दिया है। नैतिकता का स्तर किस तरह गिरता जा रहा है।

3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

- राव, एम0एस0ए0ः– अरबन सोसियोलोजी इन इंडिया नई दिल्ली : ओरियन्ट लौंगमैन लिमिटेड प्रेस, नई दिल्ली, 1974.
- मैरियट, एम0– 'विलेज इंडिया' द यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, शिकागो, 1955.
- मेन्डेलबॉम, डी0जी0– सोसायटी इन इंडिया पापुलर प्रकाशन, नई दिल्लाी, 1970.

3.8 सम्बन्धित प्रश्न

(अ) लघु उत्तरीय प्रश्न

1. ''गांव एक पृथक् इकाई है।'' वर्णन कीजिए।
2. नगर एवं गाँव के बीच विभेद कीजिए।
3. पाश्चात्य ग्रामीण जीवन की विशेषताएं बताइये।

(ब) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. ''भारतीय ग्रामीण समुदाय में जाति एवं नातेदारी एक प्रमुख सामाजिक संस्था बनी हुई है।'' व्याख्या कीजिए।
2. वृहद् परंपरा एवं लघु परम्परा का वर्णन उदाहरण सहित कीजिए।
3. गांवों की राजनैतिक व्यवस्था का वर्णन कीजिए ।

(स) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. रानी खेड़ा गांव का अध्ययन किसने किया है?

   (अ) देसाई (ब) डी0पी0 मुखर्जी

   (स) आस्कर लेविस (द) श्रीनिवास

2. संस्कृतिकरण की अवधारणा किसने दी है?

   (अ) के0एल0 शर्मा (ब) एम0एन0 श्रीनिवास

   (स) के0एल0 शर्मा (द) ए0आर0 देसाई

3. लुई ड्यूमो किस देश के थे?

   (अ) जर्मनी (ब) फ्रांस

   (स) अमेरिका (द) भारत

4. किशनगढ़ी गांव का अध्ययन कौन किया है?

   (अ) एम0एन0 श्रीनिवास (ब) ए0आर0 देसाई

   (स) योगेन्द्र सिंह (द) मैकिम मैरियट

3.9 प्रश्नोत्तर

1. (स)
2. (ब)
3. (ब)
4. (द)

इकाई – 4
शहरीकरण का स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 शहरीकरण का अर्थ

4.3 शहरीकरण की परिभाषा

4.4 भारत में शहरीकरण

    4.4.1 प्राचीन और मध्यकालीन शहर

    4.4.2 ब्रिटिश कालीन शहरीकरण

    4.4.3 स्वतन्त्रता बाद शहरीकरण

4.5 समकालीन भारत में शहरीकरण

4.6 शहरीकरण के परिणाम

4.7 शहर और शहरीकरण का भावी स्वरूप

4.8 सारांश

4.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

4.10 सम्बन्धित प्रश्न

    (अ) लघु उत्तरीय प्रश्न

    (ब) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

    (स) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

4.11 प्रश्नोत्तर

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप–

- शहरीकरण के अर्थ को समझ सकेंगे।
- शहरीकरण के विकास की प्रक्रियाओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- भारत में शहरो के क्रमिक विकास को ज्ञात कर सकेंगे।

- स्वतन्त्रता पश्चात् शहरीकरण में आये बदलावों से परिचित हो सकेंगे।
- गाँवों में शहरीकरण के प्रभावों से अवगत होंगे।

4.1 प्रस्तावना

ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया को आधार बनाकर विश्व के भू–भागों को दो श्रेणियों : ग्रामीण क्षेत्र एवं शहरी क्षेत्र में विभक्त किया जा सकता है। विश्व के नगरीय रूपान्तरण का प्रतिमान अलग–अलग राष्ट्रों में एक तरह का नहीं है। एक ओर जहाँ विकसित देश हैं वहीं दूसरी ओर विकासशील देश हैं। दोनों के शहरीकरण की प्रवृत्तियों में अन्तर परिलक्षित होता है। इस इकाई में शहरीकरण के विन्यास को भारतीय सन्दर्भ में शहरीकरण की प्रक्रिया के आधार पर आपको स्पष्ट किया जायेगा।

4.2 शहरीकरण का अर्थ

शहरीकरण शब्द 'शहर' से बना है। सामान्य भाषा में शहरीकरण का अर्थ शहरों के विकास और प्रसार से लगाया जाता है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें तीन विशेषताएँ देखने को मिलती हैं जैसे– 1. शहरों की जनसंख्या में वृद्धि होगी, 2. गाँवों का शहरों में परिवर्तित होना, 3. ग्रामीण क्षेत्र में शहर की विशेषताओं का प्रसार होना। बर्जेल ने शहरीकरण की प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि ''ग्रामीण क्षेत्रों का नगरीय क्षेत्रों में परिवर्तित होने की प्रक्रिया को ही हमें शहरीकरण कहना चाहिए।'' इस प्रक्रिया का गाँव की जनसंख्या और आर्थिक संरचना पर गहरा प्रभाव पड़ता है। जिस अनुपात में ग्रामीण जनसंख्या घटती है, ठीक उसी अनुपात में शहर की जनसंख्या में वृद्धि होती है। इस प्रक्रिया में गाँव से आने वाले लोग शहरी जीवन की विशेषताओं को अपनाकर उसका प्रसार गाँव में करते हैं। फलतः गाँव में भी शहरी जीवन की विशेषताएँ दिखलाई पड़ने लगती है। ब्रीज के अनुसार, ''शहरीकरण एक ऐसी प्रक्रिया जिसके कारण लोग शहरों में रहने लगते हैं, कृषि के स्थान पर अन्य व्यवसायों को जो शहर में उपलब्ध रहते हैं अपनाते हैं और अपने व्यवसाय प्रतिमानों में अपेक्षाकृत परिवर्तन लाते हैं।'' अतः स्पष्ट है कि ग्रामीण अंचल के लोगों को शहरीकरण के द्वारा आकर्षित किया जाता है। शहरों में उपलब्ध सुविधाएँ शहरीकरण की प्रक्रिया में योगदान देती हैं। बढ़ता भौतिकवाद, अच्छे जीवन की चाह शहरीकरण को तीव्र गति से प्रभावित करती है जिसके कारण छोटे शहर बड़े शहर में तीव्र गति से विकसित हो रहे हैं।

4.3 शहरीकरण की परिभाषा

समाजशास्त्रियों ने शहरीकरण की परिभाषा गांव से नगर/ शहर की ओर लोगों के चले जाने के रूप में दी है जहां आर्थिक गतिविधियां व्यापार, विनिर्माण, उद्योग और प्रबंध जैसे गैर–कृषि व्यवसायों के चारों ओर केन्द्रित होती हैं।

शहरीकरण के आर्थिक पहलुओं का संबंध कृषि व्यवसाय से गैर–कृषि व्यवसायों में हुए परिवर्तन से है। क्योंकि शहर विविध आर्थिक अवसरों के केंद्र रहे हैं अतः वे ग्रामीण क्षेत्रों के लोगों को आकर्षित करते हैं। यह आकर्षण ग्रामीण जनसंख्या के एक बड़े वर्ग को शहरी क्षेत्रों में खींच लेता है। ग्रामीण क्षेत्रों में व्याप्त गरीबी, कृषि आधारित अर्थव्यवस्था का पिछड़ापन, कुटीर एवं लघु उद्योगों का समाप्त होना भी ग्रामीणों को शहरी क्षेत्रों में आकर्षित करते हैं। प्रव्रजन के ये 'खिंचाव' और 'दबाव' तत्व शहरीकरण की प्रक्रिया में

महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। शहरीकरण का यह सामाजिक–सांस्कृतिक पहलू शहरी क्षेत्रों में उभरती हुई विषमता पर प्रकाश डालता है। सामान्यतः हमारे देश में शहर ही जातियों और संस्कृतियों का मिलन बिंदू रहा है।

4.4 भारत में शहरीकरण

शहरीकरण की प्रक्रिया शताब्दियों से किसी न किसी रूप में भारत में चली आ रही है और विकास, उन्नति और प्रगति के साथ निरन्तर बढ़ती गयी है। इस समय देश की जनसंख्या का 31.2 प्रतिशत भाग नगरों में रह रहा हैं। भारत में शहरीकरण की प्रक्रिया को समझने के लिए प्राचीन काल, ब्रिटिश काल तथा आधुनिक काल में नगरों की स्थिति को समझना आवश्यक होगा।

4.4.1 प्राचीन और मध्यकालीन शहर

भारत में शहरीकरण का प्रारम्भ सिन्धु घाटी की सभ्यता से प्रारम्भ होता है। इस सभ्यता में 6 विकसित नगर होने के प्रमाण हैं। ये नगर थे– हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, चन्हुदड़ो, काली बंगा, लोथल तथा रोपड़। लगभग 600 ई0 पूर्व कृषि के विकास से मंडियों की स्थापना हुई। ये मंडियाँ विनिमय का साधन बनीं और धीरे–धीरे शहरों में बदल गयीं। इन प्राचीन नगरों में हमें अयोध्या, पाटलिपुत्र, मगध, तक्षशिला, उज्जैन आदि का उल्लेख मिलता है। इन नगरों में राजनैतिक संस्थाओं और शासन प्रणाली की स्थापना हुई। राजा, मंत्रिमण्डल, सभा, सेना, राज्य कर्मचारियों आदि की उत्पत्ति भी इसी के साथ हुई। राजनैतिक नगरों में हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ, मथुरा, कन्नौज, कौशाम्बी, अयोध्या, पाटलिपुत्र आदि उल्लेखनीय हैं। मुस्लिम काल में आगरा, दिल्ली, फतेहपुर सीकरी आदि की स्थापना हुई। धर्म से जुड़े स्थान भी बड़े नगर बने जैसे हरिद्वार, मथुरा, काशी, प्रयाग, गया, अमृतसर, कुशीनगर आदि।

4.4.2 ब्रिटिश कालीन शहरीकरण

अंग्रेजों ने शहरीकरण की आधुनिक विशेषताओं के आधार पर शहरी विकास को प्रेरित किया। इस दृष्टि से यूरोपीय व्यापारिक बस्तियाँ बनने लगीं। ये बस्तियाँ तटीय क्षेत्रों में पत्तन–सह–व्यापारिक केन्द्रों के रूप में थी जहां शहरों का उत्थान हुआ। 1639 में ब्रिटिश शासक मद्रास में किला निर्मित करके वहीं बस गये। 1668 में उन्होंने बम्बई पर आधिपत्य कामय किया एवं 1690 में कलकत्ता नगर की स्थापना की। ब्रिटिश काल में औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप नगरीय वृद्धि की दर तीव्र हो गयी। इसी के फलस्वरूप अनेक नगरों का विकास हुआ। इस तरह शहरीकरण की प्रक्रिया मनुष्य के विकास, उन्नति और प्रगति के साथ निरन्तर तीव्र होती गयी है।

4.4.3 स्वतन्त्रता बाद शहरीकरण

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत में उद्योगों की स्थापना, प्रशासनिक केन्द्रों एवं वाणिज्य के नये स्तरों के परिप्रेक्ष्य में नये–नये नगर बसाये गये एवं पुराने नगरों के स्वरूप को परिवर्तित किया गया। बंगलौर, जमशेदपुर, दुर्गापुर, भिलाई, भोपाल, फरीदाबाद, ग्वालियर, हल्दिया, सूरत आदि नगरों का औद्योगीकरण की प्रक्रिया के साथ–साथ तीव्र विकास हुआ। कुछ शहर शहरीकरण विन्यास के आधार पर बसाये गये जैसे चंडीगढ़, भुवनेश्वर आदि। नगरीय विकास का यह स्वरूप भारतीय परिस्थिति में यथार्थता के निकट भी

प्रतीत होता है। इस प्रकार भारत में नगरों के विकास का प्रतिमान समरूपीय न होकर अलग—अलग ऐतिहासिक अवस्थाओं एवं क्षेत्रों में भिन्न—भिन्न रहा है।

4.5 समकालीन भारत में शहरीकरण

समकालीन भारत में शहरीकरण की प्रक्रिया को गति प्रदान करने में वैज्ञानिक प्रगति, कृषि क्रान्ति, यातायात के साधनों में वृद्धि, व्यापारीकरण, भौतिक सभ्यता और संस्कृति के प्रति व्यक्ति का आकर्षण, जनसंख्या वृद्धि आदि कारक उत्तरदायी रहे हैं। जिनके कारण यहां शहरीकरण औद्योगिक प्रति का प्रतिफल न होकर शासकीय कार्यों, वाणिज्य, व्यापार, कृषि आधारित अर्थव्यवस्था आदि के विस्तार का भी प्रतिफल है। इन आधारों पर विभिन्न शहर विविध कार्य निष्पादित कर रहे हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि किसी विशेष शहर का विकास इसकी किसी एक विशेषता के आधार पर होता है। शहर के विकास में एक साथ अनेकों सहयोगी कारक जैसे— जलवायु, आवागमन के साधन, व्यवसायिक सुविधाएं, उद्योग—धन्धे, सुरक्षा आदि कार्य करते हैं। इतना अवश्य है कि आज के औद्योगिक, तकनीकी और वैज्ञानिक युग में नगरों की स्थापना में उद्योग मुख्य भूमिका निभा रहे हैं। जहां कहीं बड़े उद्योग—धन्धे, मिल, फैक्टरी या कारखाने लगाये गये हैं, वहां स्वतः शहर और शहरीकरण का विकास हुआ है। टाटा नगर, राउरकेला, भिलाई इसके ज्वलंत उदाहरण हैं।

4.6 शहरीकरण के परिणाम

शहरीकरण एक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया का सीधा सम्बन्ध शहर से है। विकासशील देशों में यह प्रक्रिया तीव्र गति से प्रभावी हो रही है। भारत में भी इसके कारण हमारा सामाजिक—आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा नैतिक जीवन एक नया मोड़ ले रहा है। लोगों का जीवन—स्तर ऊँचा उठ रहा है, रूढ़ियों के प्रभाव में कमी आ रही है, वैयक्तिक स्वतंत्रता में वृद्धि हो रही है, सामाजिक—राजनीतिक जागरूकता बढ़ रही है परन्तु इसके पश्चात् भी इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि शहरीकरण ने व्यक्तिवाद, लाभ की भावना, अनावश्यक—प्रतियोगिता, औपचारिक सम्बन्धों तथा भौतिकवाद के प्रति आकर्षण में वृद्धि करके शहरी समाज में अनेक जटिल समस्याओं को जन्म दिया है। ऐसा शायद ही कोई क्षेत्र हो सकता है जिस पर इसका प्रभाव न पड़ा हो। सामाजिक जीवन की प्रत्येक गतिविधियां जन्म दर, मृत्यु दर, जनसंख्या, जाति, विवाह, परिवार, तलाक, सामाजिक मूल्य आदि इससे प्रभावित हुए हैं। अपराध, बाल अपराध, मद्यपान, नशाखोरी, वेश्यावृत्ति, मलिन बस्तियों की समस्याएं आदि बढ़ी हैं।

4.7 शहर और शहरीकरण का भावी स्वरूप

भारत में शहर और शहरीकरण के भविष्य को निर्धारित करने में औद्योगीकरण का प्रमुख स्थान है। जैसे—जैसे औद्योगीकरण की प्रक्रिया बढ़ती जाती है वैसे—वैसे शहरीकरण की प्रक्रिया प्रभावित होती रहती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में 1901 में शहरीकरण की जो दर थी, वह भारत में 1951 में थी। इसका एकमात्र कारण आर्थिक विकास का तुलनात्मकक रूप से मन्द होना है। परन्तु आज स्थिति बदलती जा रही है। आर्थिक विकास की तीव्रता के कारण अब शहरों का विकास भी तेजी से हो रहा है। उद्योग, व्यवसाय, वाणिज्य, व्यापार आदि की वृद्धि के कारण शहरों का आकार बड़ा होता जा रहा है। शहरों के विकास के साथ—साथ आवास, यातायात, स्वच्छता, पानी, बिजली, संचार आदि से सम्बन्धित समस्याएँ भी बढ़ती जा

रही हैं। इन समस्याओं को देखते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भविष्य में भारतीय शहर किस प्रकार के होंगे? शहरीकरण से किस प्रकार की समस्याएं पैदा होंगी?

निश्चय ही आवास की समस्या कठिन हो जायेगी। सामाजिक अन्तःक्रियाएँ विकसित नहीं हो सकेंगी। मानसिक असन्तुलन बढ़ेगा। नागरिक जीवन में विचित्रताएँ बढ़ेंगी। कार्य और व्यवहार का विशेषीकरण होगा। पारिवारिक विघटन बढ़ेगा। शहरी जीवन की विविध समस्याओं और विघटनात्मक परिस्थितियों को देखते हुए हमें परिवार नियोजन पर विशेष ध्यान देना होगा। नागरिक सुविधाओं में वृद्धि तथा क्षेत्रीय सन्दर्भ में विकास आयोजनों का क्रियान्वयन करना होगा। यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो इसके परिणाम गम्भीर होंगे।

4.8 सारांश

इस इकाई में शहरीकरण के विविध पक्षों की जानकारी से आपको ज्ञात हुआ होगा कि शहरीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें ग्रामीण क्षेत्र नगरीय क्षेत्रों में परिवर्तित होते हैं। इस प्रक्रिया में लोग गांवों से शहरों की ओर प्रवसन करते हैं क्योंकि शहरों में अच्छी शिक्षा, सुविधाएं, प्रशिक्षण और रोजगार के अधिक अवसर रहते हैं। भारत में यह प्रक्रिया औद्योगिक विकास से जुड़ी हुई है। जैसे–जैसे उद्योग–धन्धों का विकास, व्यवसाय, वाणिज्य, व्यापार आदि की वृद्धि हो रही है वैसे–वैसे शहरों का आकार बड़ा होता जा रहा है तथा अनेकों सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं।

4.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

- बोस, आशीष : स्टडीज इन इण्डियाज़ अर्बनाइजेशन, बाम्बे, 1973.
- ब्रीज गेराल्ड : अर्बनाइजेशन इन न्यूली डेवलपिंग कन्ट्रीज, बाम्बे, 1970.
- बर्जेल, ई0ई0 : अर्बन सोशियोलाजी, न्यूयार्क, 1955.
- राव, एम0एस0ए0 : अर्बनाइजेशन एण्ड सोशल चेन्ज, न्यू दिल्ली, 1970.
- सोवानी, एन0 वी0 : अर्बनाइजेशन एण्ड अर्वन इण्डिया, न्यूयार्क, 1966.

4.10 सम्बन्धित प्रश्न

(अ) लघु उत्तरीय प्रश्न

1. शहरीकरण क्या है?
2. शहरीकरण के कारण क्या हैं?
3. शहरीकरण के स्वस्थ परिणामों को स्पष्ट कीजिए।

(ब) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(क) भारत में शहरीकरण के विभिन्न चरणों को स्पष्ट कीजिए।

(ख) शहरीकरण से शहरों के सामाजिक संरचना में क्या बदलाव दिखाई पड़ते हैं?

(ग) शहरीकरण से उत्पन्न सामाजिक समस्याओं का वर्णन कीजिए।

(स) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. औद्योगिक शहर कौन सा है?

   (अ) वाराणसी (ब) मथुरा

   (स) नालंदा (द) जमशेदपुर

2. प्राचीन नगरों में किसे भारतीय सभ्यता का नगर कहते हैं?

   (अ) हड़प्पा (ब) लखनऊ

   (स) कलकत्ता (द) कानपुर

3. ''ग्रामीण क्षेत्रों का शहरी क्षेत्रों में परिवर्तित होने की प्रक्रिया को शहरीकरण कहते हैं'' किसने कहा है?

   (अ) ममफोर्ड (ब) एण्डरसन

   (स) वर्जेल (द) डेविस

4. निम्नलिखित में से शहरीकरण का सामाजिक जीवन पर कौन–सा सकारात्मक प्रभाव नहीं पड़ता?

   (अ) अन्तर्जातीय विवाह (ब) द्वैतीयक सम्बन्धों की वृद्धि

   (स) स्त्री–पुरुष समानता में वृद्धि (द) श्रम विभाजन का विशेषीकरण

5. निम्नलिखित में से कौन शहरीकरण का परिणाम हैं?

   (अ) व्यक्तिवादिता (ब) बाल विवाह

   (स) संयुक्त परिवार (द) प्राथमिक नियंत्रण

4.11 प्रश्नोत्तर

1. (द)

2. (अ)

3. (स)

4. (ब)

5. (अ)

इकाई – 5
शहरी सामाजिक संरचना

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 शहरी सामाजिक संरचना

5.3 शहरी सामाजिक संरचना की विशेषताएं

5.4 शहरी सामाजिक संरचना के आधार

5.5 शहरी सामाजिक–संरचना की निर्मायक इकाईयां

5.5.1 शहरी धर्म

5.5.2 परिवार की संरचना

5.5.3 शहरों में विवाह

5.5.4 शहरों में जाति व्यवस्था

5.6 सारांश

5.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

5.8 सम्बन्धित प्रश्न

(अ) लघु उत्तरीय प्रश्न

(ब) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(स) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

5.9 प्रश्नोत्तर

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- शहरी सामाजिक संरचना की विशेषताओं को जान सकेंगे।
- शहरी संरचना में धर्म, जाति, और विवाह संस्थ के स्वरूप से परिचित होंगे।
- शहरी पारिवारिक संरचना को समझ सकेंगे।
- शहरी सामाजिक संरचना के आधारों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्र में समाज के ढ़ांचागत स्वरूप के आधार पर अनेक अध्ययन केन्द्रित हैं। ग्रामीण समाज की भांति शहरी समाज को भी उसके ढ़ांचा स्वरूप के आधार पर विश्लेषित किया जा सकता है। समय के साथ–साथ विभिन्न कारणों से शहरी समाज के संरचनात्मक स्वरूप में अनेकों परिवर्तन हुए हैं। अतः भारत में शहरी संरचना की प्रमुख विशेषताओं के वर्णन के साथ ही शहरी जीवन की आधारभूत सामाजिक संस्थाओं की निरन्तरता के प्रकरण को जानना आवश्यक हो जाता है। राजनैतिक प्रक्रिया में घर, परिवार, जाति व्यवस्था के तंत्र का विशेष महत्व रहा है, अतः इनका भी संक्षिप्त वर्णन किया जायेगा। भारतीय शहरी सामाजिक संरचना से संबद्ध कुछ मुद्दों की जांच की जायेगी।

5.2 शहरी सामाजिक संरचना

शहरी सामाजिक संरचना विशेष प्रकृति की है जो ग्रामीण सामाजिक संरचना से भिन्न है। विभिन्न विद्वानों ने शहरी सामाजिक संरचना के विश्लेषण में विभिन्न आधारों को अपनाया है। इस सन्दर्भ में भूगोलवेत्ताओं ने जनसांख्यिकीय मापदंडों के अनुसार जनसंख्या के आकार एवं घनत्व को शामिल किया है। गार्डन चाइल्ड, मैक्स वैबर आदि समाजवैज्ञानिकों ने शहर में बाजार मौजूदगी एवं उसमें विशिष्ट वर्ग के व्यवसायियों की उपस्थिति को आधार बनाया है। सामाजिक–सांस्कृतिक दृष्टिकोण के अन्तर्गत शहरी जीवन के सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक और अन्य सामाजिक आयामों के महत्व पर बल दिया गया है। यह दृष्टिकोण शहर में बसने वालों के विशिष्ट जीवन दर्शन, मनोवृत्ति के मूल्यों तथा शहरी व्यवस्था में पाये जाने वाले मानव संबंधों पर प्रकाश डालता है। आर0के0 मर्टन ने व्यक्ति की सामाजिक स्थिति और कार्य के आधार पर इसका विश्लेषण किया है। सामान्यतः, समाजशास्त्री समाज विशेष के संस्थानिक ढ़ांचे के आधार पर इसकी विवेचना करते हैं।

5.3 शहरी सामाजिक संरचना की विशेषताएं

भारत की नगरीय सामाजिक संरचना को आर्थिक क्रियाओं की प्रकृति तथा सामाजिक प्रक्रियाओं के आधार पर नगरीय जीवन की विशेषताओं के सन्दर्भ में जाना जा सकता है। यहां का नगरीय समाज, ग्रामीण समाज की तुलना में भिन्न है। ग्रामीण समाज जहां लघुता, समरूपता, आत्मनिर्भरता एवं जड़ता से बधा होता है, वहीं शहरी समाज उच्च गतिशीलता एवं विशालता का द्योतक है। भारत में शहरी समाज की कुछ प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं–

(1) शहरी समाज में व्यक्ति गुमनाम रहना ज्यादा पसन्द करता है। वह अपने काम में लिप्त रहता है। नगर की भीड़ में सभी को नाम से जानना असम्भव रहता है।

(2) शहरी समाज में व्यक्तियों के सामाजिक सम्बन्ध कृतिम, औपचारिक एवं बनावटी होते हैं। व्यक्ति स्वार्थ की ही बात करता है।

(3) शहरी समाज में व्यक्तिवादिता पायी जाती है। व्यक्ति अपने ही दृष्टिकोण से सोचता, विचारता एवं कार्य करता है।

(4) शहरी समाज में बेमेलता पायी जाती है। वहां विभिन्न जातियों, धर्मों, प्रजातियों एवं भाषाओं के व्यक्ति रहते हैं। उनमें सामाजिक सामंजस्य का अभाव पाया जाता है। इसी कारण नगर को विभिन्न संस्कृतियों का पुंज कहा गया है।

(5) शहरी समाज में व्यक्तियों के सम्बन्ध अस्थायी होते हैं। वहां द्वैतीयक सम्बन्ध देखने को मिलते हैं। व्यक्ति की सामाजिक स्थिति परिवर्तनशील होती है।

(6) शहरी समाज में अनेकों प्रकार के व्यवसाय होते हैं। श्रम विभाजन अधिक पाया जाता है। एक व्यवसाय में लगा व्यक्ति दूसरे व्यवसाय के विषय में जानकारी नहीं रखता है।

5.4 शहरी सामाजिक संरचना के आधार

वर्ग व्यवस्था मुख्यतः शहरी सामाजिक संरचना का आधार है। आधुनिक शहरी सामाजिक संरचना में औद्योगीकरण, नगरीकरण, तकनीकी विकास आदि ने आधुनिक वर्ग–व्यवस्था को आर्थिक आधार प्रदान किया है। व्यवसायिकता इसका दूसरा महत्वपूर्ण आधार है। व्यवसायों की बहुलता होने के कारण यहां विभिन्न वर्ग पाये जाते हैं। इनमें शिक्षक, व्यापारी, डाक्टर, इंजीनियर, मजदूर आदि प्रमुख हैं। काम–धन्धे या व्यवसाय के आधार पर लोग एक–दूसरे का साथ अन्तःर्किया करते हैं, मेल–मिलाप करते हैं लेकिन उनके सम्बन्ध औपचारिक तथा अवैयक्तिक होते हैं। उनमें स्थायित्व और घनिष्ठता का अभाव रहता है।

5.5 शहरी सामाजिक संरचना की निर्मायक इकाईयां

शहर एक स्वतंत्र और आत्मनिर्भर इकाई है। वह अपनी आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक स्वतंत्र इकाई है किन्तु भारतीय शहर को हमें सम्पूर्ण भारतीय समुदाय के सन्दर्भ में देखना चाहिए, क्योंकि कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रत्येक भारतीय शहर भारत के दूसरे भागों पर निर्भर करता है। भारत में शहरी सामाजिक संरचना का निर्माण करने वाली इकाईयां–जाति, विवाह, परिवार, आर्थिक संरचना, शिक्षा, नगर विकास, समाजसेवी संस्थाएं, नगरीय राजनीतिक व्यवस्था आदि है। इनमें से कुछ प्रमुख इकाईयों की चर्चा हम यहां पर करेंगे।

5.5.1 शहरी धर्म

भारत की शहरी सामाजिक संरचना में धर्म निरपेक्षता की प्रवृत्ति को एक विशेषता समझा जाता है। नगर में प्रत्येक व्यक्ति किसी धर्म को स्वीकार करने या अस्वीकार करने के लिए स्वतंत्र है। प्रत्येक धर्म को अपने धार्मिक कृत्यों को करने की आजादी है। इसके अतिरिक्त अनेक शहर धार्मिक आन्दोलनों के केन्द्र रहे हैं, इनसे अनेक धार्मिक सिद्धान्तों की जहाँ स्थापनाएँ हुई हैं वहीं धर्म–सम्बन्धी अनेक कुरीतियों का निराकरण भी हुआ है। आर्य समाज, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण मिशन आदि इस धार्मिक आन्दोलनों से उपजी संस्थाएं हैं।

5.5.2 परिवार की संरचना

कपाड़िया, देसाई, शाह तथा कुछ अन्य समाजवैज्ञानिकों का कहना है कि आधुनिक शक्तियों के प्रभाव के कारण परिवार के संरचनात्मक एवं प्रकार्यात्मक पक्षों का ह्रास हुआ है। लेकिन यह नहीं कहा जा

सकता है कि नाभिक परिवार केवल शहरी क्षेत्रों से सम्बन्धित होते हैं और संयुक्त परिवार ग्रामीण क्षेत्र से। दोनों समाजों में ये विद्यमान हैं और परिवर्तन की चक्रीय प्रक्रिया के द्वारा नाभिक से संयुक्त और संयुक्त से नाभिक में बदलते रहते हैं लेकिन शहरी संरचना में मुख्यतः नाभिकीय परिवार अधिक पाये जाते हैं जिसमें माता–पिता और उनके अविवाहित बच्चे होते हैं। ऐसे परिवारों में पारिवारिक नियंत्रण कमजोर होता है। पुरुष व स्त्री दोनों को समान अधिकार प्रदान किया जाता है। शहरी सामाजिक परिवेश में विद्यालयों, क्लबों तथा अन्य स्वैच्छिक संगठनों ने परिवार के अधिकांश कार्यों को ले लिया है। परिवार नियोजन के प्रति जागरूकता बढ़ने से परिवार के आकार छोटे हो गए हैं। व्यक्तिवादिता के कारण पारिवारिक संबंध कमजोर हो गए हैं। परिवार की महिलाओं के रोजगार में आने के फलस्वरूप उन्हें आर्थिक आत्मनिर्भरता प्राप्त हुई है। उनकी प्रस्थिति में वृद्धि हुई है लेकिन धार्मिक मूल्यों में भी कमी आयी है।

5.5.3 शहरों में विवाह

शहरों में हो रहे अन्तर्जातीय विवाह, अंतसाम्प्रदायिक, अन्तर्क्षेत्रीण और अन्तर्धार्मिक विवाह की संख्या चाहे बहुत न भी हो परन्तु शहर में रहने वालों की मनोवृत्ति में हुए परिवर्तन अवश्य प्रकट होते है। इसी प्रकार जीवन साथी के चयन की पद्धति में भी परिवर्तन दिखाई देता है। लड़के–लड़की की पसन्द–नापसन्द को ध्यान में रखा जाता है। चयन के लिए प्रिन्ट एवं इलेक्ट्रानिक माध्यमों का प्रयोग किया जाता है। लेकिन अभी भी व्यवस्थित विवाह, अपनी जाति में विवाह तथा दहेज की प्रवृत्ति बनी हुई है।

5.5.4 शहरों में जाति व्यवस्था

जाति व्यवस्था मुख्यतः ग्रामीण संरचना का तत्व है। लेकिन शहरी क्षेत्रों में भी यह महत्वपूर्ण भूमिका रखती है। शहरी सामाजिक जीवन के कुछ क्षेत्रों में जाति व्यवस्था न केवल बनी हुई है बल्कि उसका प्रबल प्रभाव भी देखने को मिलता है। श्रीनिवास, घुरिये, एम0एस0 गोरे और एम0एस0 राव आदि समाजशास्त्रियों ने शहरी क्षेत्र में जाति के अस्तित्व को स्वीकार किया है। उन्होंने माना कि अनेक परिवर्तनों के बाद भी जाति का वर्ग निर्धारण में महत्वपूर्ण स्थान है। चाहे शक्ति–सत्ता का प्रश्न हो या आर्थिक अवसरों में भागीदारी का, जाति तत्व प्रभावी है।

5.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में शहरी सामाजिक संरचना, उसके आधार एवं निर्मायक इकाइयों का वर्णन किया गया है। ग्रामीण समाज को अपेक्षाकृत समरूप, आत्मनिर्भर, परम्परागत एवं लघुता के रूप में देखा जाता है जिसमें संयुक्त परिवार व्यवस्था, सांस्कारिक विवाह, जाति एवं नातेदारी संरचना पायी जाती है वहीं शहरी समाज को वृहद, गुमनामता, कृत्रिमता, गतिशीलता एवं विषमता के रूप में देखा जाता है जहां नाभिक परिवार संरचना, व्यक्तिवादी मनोवृत्ति और व्यवसायों की बहुलता पायी जाती है। इसके बावजूद भी शहरी क्षेत्रों में परम्परागत ग्रामीण सामाजिक संरचना के तत्वों को पूरी तरह से अस्वीकार नहीं किया गया है।

5.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

- राव, एम0एस0 एस0 : अर्बनाइजेशन एण्ड सोशल चेन्ज, ओरियन्ट लांगमेन, बाम्बे, 1970.
- सारिकवाल, आर0सी0 : 'सोशियोलोजी ऑफ ए ग्रोइंग टाउन' अजंता पब्लिशिंग, नई दिल्ली, 1978.

- बोस, आशीष : स्टडीज इन इण्डियाज अर्बवनाइजेशन, टाटा– मेग्राहिल, नई दिल्ली, 1973.
- तेलंग, रचना : भारतीय नगर–बदलते आयाम, प्रिन्टवेल पब्लिशर्स, जयपुर, 1999.

5.8 सम्बन्धित प्रश्न

(अ) लघु उत्तरी प्रश्न

(क) शहरों में परिवार संरचना का वर्णन कीजिए।

(ख) शहरों में धर्म की भूमिका बताइये।

(ग) शहरी जाति व्यवस्था का वर्णन कीजिए।

(ब) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) शहरी सामाजिक संरचना क्या हैं? शहरों में परिवार संस्था की विवेचना कीजिए।

(2) शहरी सामाजिक संरचना की निर्मायक इकाईयों का वर्णन कीजिए।

(3) शहरी सामाजिक संरचना की विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।

(स) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) 'अर्वनाइजेशन एण्ड सोशल चेन्ज' किसकी पुस्तक है?

(अ) श्रीनिवास

(ब) एम0एस0ए0 राव

(स) आई0पी0 देसाई

(द) घुर्ये

(2) शहर की मुख्यतः कौन सी विशेषता नहीं है?

(अ) अधिक जनसंख्या

(ब) अधिक घनत्व

(स) अपरिचितता

(द) परम्परा

(3) शहरी समाज की व्यवसाय संरचना का प्रमुख आधार क्या है?

(अ) परम्परा

(ब) प्रथा

(स) पूंजी या धन

(द) जाति

(4) निम्नलिखित में से कौन ग्रामीण एवं शहरी समाज में मौलिक अन्तर स्थापित करता है?

(अ) पोशाक/परिधान

(ब) परिवहन का माध्यम

(स) भवन

(द) व्यवसायिक विभिन्नता

(5) आधुनिक शहरी समाज संचालित होता है–

(अ) परम्पराओं से

(ब) ईश्वरीय नियमों से

(स) भौतिक शक्तियों से

(द) विधि के शासन से

5.9 प्रश्नोत्तर

1. (ब) 2. (द) 3. (स) 4. (द) 5. (द)

इकाई – 6
परिवार और उनके प्रकार

6.0 उद्‌देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 परिवार का अर्थ एवं परिभाषा

6.3 परिवार : एक संस्था

6.4 परिवार के प्रकार

6.4.1 संयुक्त परिवार व्यवस्था

6.4.2 नाभिकीय परिवार व्यवस्था

6.5 भारत में संयुक्त परिवार का स्वरूप

6.5.1 संयुक्तता क्या है?

6.5.2 संयुक्त परिवार किन लोगों से बनता है

6.6 परिवार में परिवर्तन

6.6.1 संयुक्त परिवार में परिवर्तन और विघटन की प्रक्रिया के कारण

6.6.2 परिवर्तन संबंधी कारण जो संयुक्त परिवार को सुदृढ़ बनाते है

6.6.3 परिवारिक जीवन शैली का उभरता हुआ ढाँचा

6.7 सारांश

6.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

6.9 बोध प्रश्न

6.10 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

6.0 उद्‌देश्य

इस इकाई के अध्याय के पश्चात्य आप–

- परिवार का अर्थ एवं परिभाषा की जानकारी कर सकेगें।
- परिवार संस्था के स्वरूप को परिभाषित करना।
- परिवार के प्रकारों का उल्लेख करेगे।
- संयुक्त परिवार के स्वरूप की जानकारी कर सकेगें।

- नाभिकीय परिवार के स्वरूप की जानकारी कर सकेगें।
- भारत में संयुक्त परिवार का उल्लेख करेगें।
- परिवार में परिवर्तन की जानकारी कर सकेगें।
- परिवार के प्रकार्यो की जानकारी कर सकेगें।

6.1 प्रस्तावना

समाज परिवारों का समुच्चय है। प्राणी शास्त्रीय सम्बन्धों के आधार पर बने हुए समूहों में परिवार सबसे छोटी इकाई है। प्रत्येक मनुष्य किसी–न–किसी परिवार का सदस्य होता है। मानव की समस्त सामाजिक संस्थाओं में परिवार एक आधारभूत और सर्वव्यापी सामाजिक संस्था है। संस्कृति के सभी स्तरों में चाहे उन्हे उन्नत कहा जाय या निम्न किसी–न–किसी प्रकार का पारिवारिक संगठन अनिवार्यतः पाया जाता है। परिवार के संस्था स्वरूप का वर्णन करेगे। यहाँ मूल परिवार और संयुक्त परिवार व्यवस्थाओं का वर्णन किया गया है। इसके साथ ही भारतीय परिवार में होने वाले परिवर्तन तथा प्रकार्य को भी देखा गया है।

6.2 परिवार का अर्थ एवं परिभाषा

परिवार एक प्राथमिक समूह है जिसमें समान्यतः माता–पिता तथा एक या अधिक बच्चे होते हैं।

मैकाइवर ''परिवार बच्चों की उत्पत्ति एवं पालन–पोषण की व्यवस्था करने हेतु पर्याप्त रूप में निश्चित और स्थाई यौन–सम्बन्ध से परिभाषित एक समूह है।''

निमकॉफ– ''परिवार पति–पत्नी, बच्चों सहित या उनके बिना अथवा मनुष्य अथवा स्त्री अकेले का बच्चों सहित कम या अधिक स्थिर समिति है।''

डेविस– ''परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जो रक्त के आधार पर एक–दूसरे से सम्बन्धित है तथा जो नातेदार है।''

6.3 परिवार एक संस्था

सबसे पहले संस्था के रूप में परिवार के स्वरूप की परिभाषा समझे। मौटे तौर पर माता–पिता और बच्चों के समूह को परिवार कहते हैं। इस प्रकार के परिवार को प्राथमिक या नाभिकीय परिवार कहा जाता है। संयुक्त परिवार में कई पीढ़ियां एक साथ रहती हैं। सम्बन्धों से बनी संरचना होती है जिसमें प्रतिमान मूल्य तथा नियम होते हैं जो एक पीढ़ी से अगली पीढी तक मान्य होते हैं। इसी कारण परिवार एक संस्था का रूप लेता है। इससे पता लगता है कि समाज में कालांतर में हर समूह में परिवार का एक ढाँचा कैसे बनता है और फिर उसमें कैसे व क्या बदलाव आते हैं।

6.4 परिवार के प्रकार

मानव समाज के विकास के साथ–साथ परिवार के भी अनेक रूप अस्तित्व में आये हैं। प्रत्येक स्थान की भौगोलिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों ने भिन्न–भिन्न प्रकार की पारिवारिक–व्यवस्था को जन्म दिया है। सदस्यों की संख्या, विवाह का स्वरूप, स्त्री–पुरूष की सत्ता, निवास, वंशनाम, आदि के

आधार पर परिवार का वर्गीकरण किया जाता है। भारत में पाये जाने वाले विभिन्न प्रकार के परिवारों का वर्गीकरण इस प्रकार हैः

(क)– सत्ता के आधार पर परिवार का रूप पितृसत्तात्मक अथवा मातृसत्तात्मक हो सकता है–

पितृसत्तात्मक परिवार– पितृसत्तात्मक परिवार में परिवार के मुखिया पुरूष के हाथों में सारी शक्तियाँ होती हैं। वह परिवार की सम्पत्ति का स्वामी और प्रबंधक होता है। परिवार के सभी सदस्य उसके अधीन होते है। वंश परम्परा की तरफ चलती है।

मातृसत्तात्मक परिवार– मैकाइवर इसे मातृसत्तात्मक न कहकर मातृक (Maternal) कहना अधिक अच्छा समझता है। मातृसत्तात्मक परिवार में शक्ति परिवार की मुखिया स्त्री के हाथों में रहती है, जबकि पुरूष उसके अधीन होता है।

6.4.1 संयुक्त परिवार व्यवस्था

एक संयुक्त परिवार में तीन या तीन से अधिक पीढ़ियों के सदस्य साथ–साथ एक ही घर में निवास करते हैं, उनकी सम्पत्ति सामूहिक होती है, वे एक ही रसोई में बना भोजन करते हैं, धार्मिक पूजा में सामूहिक भाग लेते हैं, और परस्पर नातेदारी व्यवस्था से आपस में सम्बन्धित होते हैं। संयुक्त परिवार के सदस्य अधिकारों व दायित्वों को निभाते हैं। दुबे कहते हैं, ''यदि कोई मूल परिवार एक साथ रहते हों और उनमें निकट का नाता हो, एक स्थान पर भोजन करते हों और एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करते हों तो उनके सम्मिलित रूप में संयुक्त परिवार कहा जा सकता है।'' एक संयुक्त परिवार में दादा–दादी, माता–पिता, चाचा–चाची, चचेरे भाई एवं उनकी पत्नियां व बच्चों, विधवा बहने व बेटियां होती हैं।

6.4.2. नाभिकीय परिवार व्यवस्था

इस प्रकार के परिवार आधुनिक औद्योगिक समाजों की प्रमुख विशेषता है। औद्योगिकरण और नगरीकरण के बढ़ने के साथ–साथ इस प्रकार के परिवारों की संख्या बढ़ती जा रही है। नाभिकीय परिवार का सबसे छोटा रूप है जो एक पुरूष, स्त्री तथा उनके आश्रित बच्चों से मिलकर बना होता है। इस प्रकार के परिवार में अन्य रिश्तेदारों को सम्मिलित नहीं किया जाता है। इसमें बच्चे भी अविवाहित रहने तक रहते हैं। विवाह के बाद वे अपना स्वंय का नाभिकीय परिवार बना लेते हैं। इस प्रकार की परिवार व्यवस्था अनेक जनजातियों में भी देखने को मिलती है। ऐसे परिवारों में सदस्य भावात्मक आधार पर एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़े होते हैं।ऐसे परिवारों का आकार बहुत ही सीमित होता है और इनका बच्चो के जीवन पर काफी रचनात्मक प्रभाव पड़ता है।

6.5. भारत में संयुक्त परिवार का स्वरूप

भारत में संयुक्त परिवार व्यवस्था को दो निम्नलिखित पक्षों पर विचार करके समझा जा सकता हैः

1. संयुक्तता क्या है?
2. संयुक्त परिवार में कौन–कौन होता है।

6.5.1 संयुक्तता क्या है?

संयुक्तता परिवार के सदस्य किस संदर्भ में संयुक्त रूप से सहभागी होते है इनकी संयुक्तता साथ खाने, साथ रहने, सम्पत्ति के संयुक्त स्वामित्व, सहकारिता और संयुक्तता की भावना, एक ही देवता की पूजा आदि धार्मिक अनुष्ठानों में दिखाई देती है। इन तत्वों पर बारी–बारी से विचार किया जायेगा।

i- **सामान्य रसोईघर**– संयुक्त परिवार के सभी सदस्य एक ही रसोईघर में बना भोजन करते हैं। कर्ता या अन्य बड़े पुरूष की पत्नी अन्य स्त्रियों की रसोई के कार्यो में देखभाल करती हैं। ऐसे परिवार में भोजन करने की भी कुछ प्रथाएं होती है, जो बच्चों के समाजीकरण में योग देती हैं।

ii- **सामान्य विकास**– संयुक्त परिवार में कई छोटे–छोटे परिवार होते हैं और इनके सदस्य एक ही निवास स्थान पर रहते हैं जिसे वे बड़ा घर कहते है। प्रत्येक छोटे परिवार के लिए एक या दो कमरे अलग से हो सकते है, परन्तु रसोई और पूजा, आदि के लिए सामान्य कमरा होता है।

iii- **सामान्य सम्पत्ति**– संयुक्त परिवार के सभी सदस्यों की एक सामान्य सम्पत्ति होती है जिसमें सभी पुरूष जो एक पूर्वज के वंशज होते हैं, हिस्सेदार होते हैं। सभी सदस्य कमाकर परिवार के सामान्य कोश में देते हैं तथा विवाह, उत्सव, मृत्यु और जन्म आदि के अवसर पर सामूहिक कोश से ही खर्च किया जाता है। परिवार का सबसे बड़ा पुरूष ही इस अर्थव्यवस्था को संभालता है।

iv- **सहकारिता और भावनात्मकता** – आई.पी.देसाई (1964) और कपाडिया (1958) जैसे विद्वानों ने संकेत किया है कि संयुक्तता पर कार्यकलापों की दृष्टि से विचार करना चाहिए। कार्यात्मक दृष्टि से संयुक्त परिवार अपने नातेदारों के प्रति दायित्वों का पूरी तरह निर्वाह करने पर बल देता है।

v- **अनुष्ठान संबंध** – संयुक्त परिवार में परिवारिक अनुष्ठान संबन्ध को संयुक्तता का प्रतीक माना जाता है। संयुक्त परिवार के सदस्य अपने मृत पूर्वजों के प्रति समय–समय पर किए जाने वाले पूजा पाठ के संदर्भ में आपस में जुड़े रहते हैं। उदाहरण स्वरूप, परिवार के सदस्य मृत माता–पिता का श्राद्ध करते है; जिसमें संयुक्त परिवार का बड़ा पुरूष सदस्य परिवार के अन्य सभी सदस्यों की ओर से पूजा–पाठ और पिडंदान करता है।

vi- **सदस्यों में एक निश्चित संस्तरण**– संयुक्त परिवार में सदस्यों को विभिन्न पद और अधिकार प्राप्त होते हैं। इन पदों में संस्तरण पाया जाता है। इस संस्तरण में सर्वोच्च स्थानकर्ता का होता है और उसके बाद कर्ता की पत्नी फिर क्रमशः कर्ता के भाई, कर्ता के सबसे बड़े बेटे, छोटे पुत्र–पुत्रियों, पत्नियों आदि का होता है।

6.5.2 संयुक्त परिवार किन–किन लोगों से बनता है

इस विषय पर निम्न बिन्दुओं पर विचार किया जा सकता हैः

(क) परिवार के सदस्यों में नातेदारी के संबंध।

(ख) एक पारिवारिक इकाई में कितनी पीढ़ियाँ हैं।

(ग) संपत्ति में भागीदारी।

(क) **परिवार के सदस्यों में नातेदारी के संबंध**– संयुक्त परिवार में ऐसे सदस्य सम्मिलित किये जाते हैं जो आपस में रक्त संबंधी तथा विवाह संबंधी साथ–साथ रहते हैं। कोई परिवार तभी संयुक्त परिवार कहलाएगा जबकि उसमें दो या अधिक परस्पर संबंधित विवाह युगल हों, और यह भी देखा गया है कि 1. ये युगल आपस में वंश परम्परा से बंधे होते है 2. शाखीय रूप में नातेदारी में जुड़े होते हैं। पॉलिन कोलेंदा के अनुसार नातेदारी से बंधे सदस्यों के आधार पर निम्नलिखित प्रकार के संयुक्त परिवार पाये जाते हैं–

i- **शाखीय संयुक्त परिवार**– ऐसे परिवारों में दो या अधिक विवाहित युगल होते हैं और आपस में सहोदर संबंध होते है। इस प्रकार के संयुक्त परिवार में प्रायः भाई और उसकी पत्नी तथा दूसरा भाई और उसकी पत्नी अविवाहित बच्चों के साथ रहते हैं।

ii- **अनुपूरित शाखीय संयुक्त परिवार** : यह भी शाखीय संयुक्त परिवार है, जिसमें अविवाहित, तलाकशुदा और विधवा संबंधी भी साथ में रहते है।

iii- **वंश परम्परागत संयुक्त परिवार**– उस परिवार को कहते है, जिसमें ऐसे दो युगल, जिनमें आपस में वंश परम्परागत संबंध रहते है जैसेः माता–पिता के साथ विवाहित पुत्र का रहना।

iv- **अनुपूरित वंश परंपरागत संयुक्त परिवार**– यह ऐसा वंश परम्परागत संयुक्त परिवार है जिसमें अविवाहित, तलाकशुदा या विधवा/विधुर संबंधी होते है जो दोनों परिवारों में से किसी भी वंश परंमरागत रूप से संबंधित मूल परिवार से जुड़े नहीं होते हैं जैसे पिता का विधुर भाई या पुत्रवधू के साथ उसके बच्चों सहित।

(ख) **एक पारिवारिक इकाई में कितनी पीढ़ियाँ है**– संयुक्त परिवार में पाई जाने वाली पीढ़ियों की संख्या की दृष्टि से भी संयुक्त परिवार के बारे में विचार किया जाता है। ए.आर.देसाई (1964) और टी.एन.मदन (1965) जैसे कुछ समाजशास्त्रीयों ने इस बात पर बल दिया है कि संयुक्त परिवार की पहचान के लिए यह देखा जाए उस संयुक्त परिवार में कितनी पीढ़ियां है

(ग) **संयुक्त संपत्ति में भागीदारी**– संयुक्त परिवार में नातेदारों के उस समूह तक सीमित रखा है जिनका संपत्ति पर स्वामित्व बनता है इसे सहदायादी परिवार भी कहते हैं। सहदायादी वर्ग में महिला सदस्यों को शामिल नहीं किया जाता है। सन् 1956 में हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम पारित होने तक पितृवंशीय हिंदुओ में विरासत की दो पद्धतियाँ थीं। पहली पद्धति मिताक्षर तथा दूसरी पद्धति दायभाग पद्धति थी। मिताक्षर में पुत्र के पैदा होते ही पिता के पूर्वजों की संपत्ति पर जन्मजात अधिकार होता है। दायभाग में पिता पूर्वजों की संपत्ति के अपने भाग का पूर्ण स्वामी है और अपनी इच्छा से अपनी संपत्ति को किसी को भी देने का अधिकार होता है।

6.6 परिवार में परिवर्तन

परिवार एक सार्वभौमिक तथ्य है। समाज और उसका कोई भी अंग परिवर्तन के प्रभाव से बच नहीं सका है। 18वीं सदी के अन्त से ही यूरोप में और भारत में 19वीं सदी से ही जबकि औद्योगिकरण एवं नगरीकरण में वृद्धि हुई; परिवार में अनेक परिवर्तन प्रारम्भ हुए। औद्योगिकरण से पूर्व परिवार एक उत्पादनशील इकाई था, किन्तु औद्योगिकरण होने पर उत्पादन कारखाने में होने लगा। पति, पत्नी और

बच्चे सभी कारखानों में काम पर जाने लगे। इससे बच्चों की उपेक्षा हुई पिता का परिवार पर नियन्त्रण शिथिल हुआ एवं सदस्यों की स्वतन्त्रता एवं व्यक्तिवादिता में वृद्धि हुई।

6.6.1 संयुक्त परिवार में परिवर्तन और विघटन की प्रक्रिया के कारण

परम्परागत भारतीय संयुक्त परिवार में अनेक परिवर्तन हुए हैं और वह संक्रमण के काल से गुजर रहा है। नवीन परिस्थितियों के कारण संयुक्त परिवार में होने वाले परिवर्तनों को कुछ विद्वानों ने विघटन माना है तो कुछ ने परिवर्तन ही कहा है। डॉ.आर.एन. सक्सेना ने संयुक्त परिवार में परिवर्तन लाने वाले निम्न कारकों को बताया है–

- आर्थिक शक्ति
- भावात्मक शक्तियां
- नये सामाजिक कानून
- नवीन विचार

आर्थिक शक्ति– आजादी के बाद से व्यवसायों का विविधीकरण हुआ और व्यावसायिक अवसर भी बढ़े। महिलाओं और पुरूषों के बीच समानता को बढ़ावा देने की संविधानिक प्रतिबद्धता के कारण तथा महिलाओं को देश के विकास प्रक्रिया में जोड़ने और विभिन्न प्रकार के पेशो की ओर आकृष्ट करने की ओर भी अधिक प्रेरणा मिली। जिन परिवारों में पुरूष और स्त्री दोनों काम पर बाहर जाने लगे वहाँ परिवार के विभिन्न सदस्यों के बीच परस्पर संबंध प्रभावित हुए।

भावनात्मक शक्तियाँः– औद्योगिकरण व नगरीकरण के फलस्वरूप सामाजिक संबंन्धों में शिथिलता आने लगी।

शैक्षिक कारण– भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के कारण भारतीयों का पश्चिम की शिक्षा, संस्कृति एवं विचारधारा से परिचय हुआ, उनके दर्शन एवं सामाजिक मूल्यों को भारतीयों ने भी अपनाया। व्यक्तिवाद, उदारवाद, प्रकृतिवाद, उपयोगितावाद एवं अस्तित्ववाद तथा पश्चिमी साहित्य एवं शिक्षा आदि का भी भारतीय संस्थाओं पर प्रभाव पड़ा। इससे संयुक्त परिवार जैसी संस्था कमजोर हुई।

नये सामाजिक कानून– संयुक्त परिवार की एकता का मूल कारण यह था कि पारिवारिक संपत्ति में किसी सदस्य के वैयक्तिक अधिकार नहीं थे, लेकिन हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 1956 ने उन व्यक्तियों को भी सम्पत्ति में अधिकार प्रदान किये जो संयुक्त परिवार से अलग रहना चाहते थे।

नवीन विचार– जीवन में उच्च महत्वाकांक्षा और वैयक्तिकता का बढ़ता हुआ बोध संयुक्त परिवार को कमजोर किया।

6.6.2 परिवर्तन संबंधी कारण जो संयुक्त परिवार को सुदृढ़ बनाते है

समाजशास्त्रियों ने परिवार में होने वाले परिवर्तनों का जायजा लेते समय यह भी देखा कि जहां एक ओर संयुक्त परिवार के कुछ पक्ष कमजोर हुए वहीं दूसरी ओर शहरीकरण और औद्योगिकरण ने संयुक्त परिवार के कुछ पहलुओं को मजबूत बनाने का काम किया। के.एम.कपाडिया ने अपने अध्ययन में हमारा

ध्यान इस बात की ओर आकर्षित किया कि जो परिवार कभी गांवों से शहरों में जाकर बस गये थे आज भी उनका गांवों या छोटे शहरों में रहने वाले संयुक्त परिवारों से गहरा संबंध है तथा वे पूरी तरह से स्वतंत्र नहीं बन पाते। ये परिवार नातेदारी और संयुक्त परिवार के प्रतिमानों का पालन करते हैं।

6.6.3 पारिवारिक जोवन शैली का उभरता हुआ ढाँचा

पहले माता–पिता बुढ़ापे में अपने बड़े लड़के के पास या दूसरे लड़के के साथ रहना पंसद करते थे। अब उन्होने भी अपने आपको पारिवारिक जीवन की नई जरूरतों के अनुसार ढ़ालना शुरू कर दिया है। वे अपने भावी जीवन के लिए पहले से ही आर्थिक व्यवस्था करने लगे हैं। आज एक ही शहर में माता–पिता और विवाहित बेटा अलग–अलग भी रहते पाये जाते हैं। अब भारतीय जीवन में एक और प्रवृत्ति भी दिखाई देने लगी है। बेटियां भी अपने माता–पिता की बुढ़ापे में देखभाल करने लगी हैं। कानून में इस बात की भी व्यवस्था की गई है कि यदि लड़की आत्मनिर्भर है तो विवाह के बाद भी वह अपने आश्रित बूढ़े माता–पिता की देखभाल कर सकती है। आज शहरों के कई मूल परिवार में द्विपक्षीय नातेदारी को मान्यता तथा स्वीकृति मिल रही है अर्थात माता तथा पिता दोनों पक्षों के नाते–रिश्तों को बराबर महत्व दिया जाने लगा है।

6.7 सारांश

परिवार को एक सामाजिक संस्था के रूप में वर्णित किया गया है। इसमें भारत में पाये जाने वाले परिवार के प्रकारों का वर्णन किया गया है और मूल या नाभिक परिवार और संयुक्त परिवार व्यवस्था की अटूट परम्परा पर बल दिया गया है। इसके बाद भारत में संयुक्त परिवार के स्वरूप का वर्णन किया गया है और इस बात पर ध्यान केन्द्रित किया है कि संयुक्तता क्या है और संयुक्त परिवार किन लोगों से बनता है? इसके अतिरिक्त परिवार में परिवर्तन और सुदृढ़ता पर विचार किया गया है और अंत में पारिवारिक जीवनशैली के उभरते हुए स्वरूप के बारे में संकेत किया गया है।

6.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- डेविस, किंग्सले (1949), ''हयूमन सोसाइटी'', प्रकाशन मैकमिलन पृ0–397।
- गोरे, एम.एस. (1968), ''अर्बनाइजेशन एण्ड फैमिली चेंज इन इंडिया'', पापुलर प्रकाशनः मुम्बई।
- कर्वे, इरावती, (1965), ''किनशिप आर्गेनाइजेशन इन इण्डिया'', एशिया पब्लिशिंग हाउसः मुम्बई।
- लवानिया, एम.एम. और जैन, शशी. के. (1997), ''भारतीय सामाजिक संस्थाएँ'', रिसर्च पब्लिकेशन जयपुर।
- गुप्ता, एम. एल. और शर्मा, डी. डी. (1997), ''भारतीय समाज एवं सामाजिक संस्थाएँ'', साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।

6.9 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

प्र0.1 परिवार को परिभाषित कीजिए तथा इसके प्रकारों की विवेचना कीजिए।

प्र0.2 संयुक्त परिवार को प्रभावित कर रही समकालीन सामाजिक शक्तियों की विवेचना कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न–

प्र0.1 संयुक्त परिवार पर औद्योगिकरण का प्रभाव क्या पड़ा।

प्र0.2 संयुक्त परिवार व नाभिकीय परिवार में अन्तर क्या है।

प्र0.3 नाभिकीय परिवार की परिभाषा बताइये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्र0.1 सत्ता के आधार पर परिवार को कितने भागों में विभाजित किया गया है–

(क) 3 (ग) 2

(ख) 4 (घ) 5

प्र0.2 संयुक्त परिवार में क्या नही पाया जाता है?

(क) सामान्य रसोई घर (ग) सामान्य विकास

(ख) पूजा घर (घ) व्यक्तिावादिता

प्र0.3 नाभिकीय परिवार का कैसा स्वरुप होता है?

(क) माता पिता उनके अविवाहित बच्चे

(ख) रक्त सम्बन्धी

(ग) दो पीढ़ियो के सभी सदस्य

(घ) एक पीढ़ि के सहोदरों सहित

6.10 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

(1) ख

(2) घ

(3) क

इकाई 07
विवाह और उसके बदलते विन्यास

इकाई की रूपरेखा

7 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 विवाह की अवधारणा

7.3 विवाह और उसके बदलते विन्यास

7.4 विवाह में बदलाव के प्रमुख कारण

7.5 मुस्लिमों में विवाह

7.6 मुस्लिम विवाह एक सामाजिक समझौता हैं।

7.7 मुस्लिम विवाह के प्रकार

7.8 बोध प्रश्न

7.9 सन्दर्भ सूची

7 उद्देश्य

आप इस इकाई में परिवर्तन प्रकृति का नियम है। यह परिवर्तन किसी न किसी रूप में परिलक्षित होता रहता है। समकालीन भारतीय समाज और संस्कृति भी इससे अछूते नहीं रहे हैं। समाज की आधार स्तम्भ कही जाने वाली संस्था विवाह संस्था में भी अनेक परिवर्तन हमें देखने को मिल रहे हैं। का अध्ययन करेगे।

- इस इकाई मे आप विवाह की अवधारणा को समझ सकेगे ।
- आप विवाह और उसके बदलते विन्यास का अध्ययन करेगे।
- आप विवाह में बदलाव के प्रमुख कारण को जान सकेगे।
- आप विवाह के बदलते विन्यास को समझेगे।

7.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्र में, विवाह एक सामाजिक संस्था है जो दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच औपचारिक रूप से स्वीकृत संबंध है। यह एक सामाजिक, कानूनी और धार्मिक मान्यता प्राप्त व्यवस्था है जो व्यक्तियों के बीच, उनके बच्चों के बीच, और उनकी संतानों के अधिकारों और दायित्वों को स्थापित करती है विवाह एक सामाजिक संस्था है जो समय के साथ बदलती रही है। भारत में, पारंपरिक विवाह प्रथाएँ,जैसे कि अरेंज मैरिज, शहरीकरण और शिक्षा के कारण बदल रही हैं,जिससे युवा पीढ़ी अब व्यक्तिगत पसंद और समलैंगिक विवाह जैसे नए विकल्पों को अपनाने लगी है।

भारत में विवाह शुरू से ही दो लोगों के बीच नहीं, बल्कि दो परिवारों के बीच संबंधों को जोडने के लिए किया जाता रहा है। आज के दौर में विवाह, जिस तरह से दो लोगों के इर्द गिर्द केंद्रित होता जा रहा है, उसमें पारस्परिक और कानूनी स्तर पर क्या उम्मीद की जा सकती है। समय और स्थान पर आधारित चाहे जितने भी सर्वेक्षण करवा लिए जाए, उनसे यही पता चलेगा कि विवाह हमेशा परिवारों के बीच तय किया गया एक गठबंधन रहा है। चाहे वह पितृसत्तात्मक समाज हो या मातृसतात्मक, चाहे शिकारी संग्रहकर्ता हो या आज की मानवीय सभ्यता हो. सभी मामलों में परिवारो को विशेषाधिकार प्राप्त रहा है, व्यक्तियों को नहीं। परपरा में, विवाह की केंद्रीय बात यह नहीं थी कि वह जोडे को खुश रखेगा या नहीं बल्कि इसे परिवारों को दीर्घकालिक सबंधों में एक साथ लाने के लिए डिजाइन किया गया था, ताकि वर्तमान और भविष्य में उनके प्रभाव–क्षेत्र, आर्थिक कल्याण और सुरक्षा को बढ़ाया जा सके। इसके लिए जरूरी था, कि जोडे विषमलैंगिक बनें, और बच्चे पैदा करने का कर्तव्य निभाए। साथ ही, चूंकि विवाहों का उद्देश्य समाज में परिवारों की पहुंच बढ़ाना था, इसलिए कुछ श्रेणियों के रिश्तेदारों से विवाह करना वर्जित था। इस नियम की अवहेलना करने से बड़े सामाजिक गठबंधन और संबंध बनाने का उद्देश्य विफल हो जाता है। इसलिए इस नियम के विपरीत बने यौन–संबंधों को अनाचार कहकर घृणा की जाती थी। यह घृणा की भावना सामाजिक रूप से निर्मित भावना है, जो समय के साथ सहज हो जाती है। इस बारे में प्रत्येक समाज का अपना नाम है।

7.2 विवाह की अवधारणा

भारतीय संस्कृति में विवाह को वैदिक काल से ही पवित्र रिश्ता माना जाता रहा है। विवाह एक सामाजिक–सांस्कृतिक संस्था है। यह वह आधार स्तंभ है जिसके द्वारा मानव का अस्तित्व बना हुआ है। विवाह को एक सामाजिक संस्था के रूप वर्णित किया गया है जिसकी अवधारणा को सामाजिक एवं सांस्कृ तिक परिपेक्ष्य में भली–भांति रूप से समझा जा सकता है। यह समाज की निरंतरता का आधार है। विवाह का शाब्दिक अर्थ है 'उद्गाह' अर्थात वधू को वर के घर ले जाना। हिंदू धर्म में विवाह सोलह संस्कारों में से त्रयोदश संस्कार है। विवाह दो शब्दों से मिलकर बना है वि+ वाह। अतः इसका शाब्दिक अर्थ है विशेष रूप से (उत्तरदायित्व का) वहन करना।

वेस्टरमार्क ने अपनी पुस्तक "History of Human Marriage" में विवाह को परिभाषित करते हुए उसके बहु विवाह एवं समूह विवाह के स्वरूपों को इंगित किया है एवं विवाह के फलस्वरूप परिवार में सदस्यों के अधिकार एवं कर्तव्यों पर प्रकाश डाला है।

मजूमदार एवं मदान के अनुसार विवाह संस्था में कानूनी या धार्मिक आयोजन के रूप में उन सामाजिक स्वीकृतियों का समावेश होता है। जो विषम लिंगियों को यौन क्रिया और उससे संबंधित सामाजिक–आर्थिक संबंधों में सम्मिलित करने का अधिकार प्रदान करती है। इस प्रकार विवाह जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ–साथ सामाजिक–आर्थिक अधिकारों एवं कर्तव्यों का भी निर्धारण एवं नियमन करता है।

मैलिनोवस्की के अनुसार विवाह बच्चों की उत्पत्ति एवं पालन–पोषण के लिए इकरारनामा है।

बोगार्डस के अनुसार –विवाह स्त्री एवं पुरुष को पारिवारिक जीवन में प्रवेश कराने वाली एक संस्था

है, अर्थात विवाह करने वाले स्त्री–पुरूष एक नवीन परिवार का निर्माण करते हैं।

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि विवाह समाज की एक महत्वपूर्ण और सार्वभौमिक सामाजिक संस्था है जो परिवार के नियमन को संभव बनाती है। एक सामाजिक संस्था के रूप में यह बच्चों के पालन–पोषण के लिए अपेक्षाकृत स्थायी संबंधो में प्रवेश करने के लिए एक मान्यता प्राप्त अवधारणा है।

7.3 विवाह और उसके बदलते विन्यास

विवाह, मानव समाज की एक पुरातन संस्था है, जो केवल दो व्यक्तियों के बीच का संबंध नहीं, बल्कि दो परिवारों, संस्कृतियों और मूल्यों का मिलन होता है। परंतु समय के साथ–साथ समाज, संस्कृति, तकनीक और जीवनशैली में आए परिवर्तन ने विवाह की परिभाषा, उद्देश्य और स्वरूप को भी बदल दिया है। आज का विवाह, केवल सामाजिक परंपरा नहीं, बल्कि व्यक्तिगत चुनाव, समझदारी और समानता पर आधारित एक सहयोगी संस्था बनता जा रहा है। विवाह के बदलते प्रमुख कारण समय, समाज, संस्कृति और व्यक्तिगत सोच में आए परिवर्तनों के साथ विकसित हुए हैं। यहां कुछ प्रमुख कारण दिए गए हैं जो आज के समय में विवाह के बदलते स्वरूप को दर्शाते हैं।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता– आज की पीढ़ी विशेषकर महिलाएं पहले की तुलना में अधिक शिक्षित, आत्मनिर्भर और स्वतंत्र हो गई हैं। इससे विवाह अब ज़रूरत नहीं बल्कि एक विकल्प बन गया है।

पारंपरिक बनाम आधुनिक सोच– पहले विवाह को परिवार और समाज की प्रतिष्ठा से जोड़ा जाता था, अब यह दो व्यक्तियों की आपसी समझ और भावनात्मक जुड़ाव पर आधारित होता जा रहा है। प्राचीन भारतीय समाज में विवाह को 'धर्म' का एक अनिवार्य अंग माना जाता था। यह परिवार द्वारा तय किया जाता था और सामाजिक मर्यादाओं के भीतर रहकर निभाया जाता था। विवाह का उद्देश्य वंशवृद्धि, पारिवारिक दायित्व और सामाजिक स्थिरता था। पति–पत्नी के संबंधों में स्पष्ट भूमिका–निर्धारण होता था, पति पालक, पत्नी पालनकर्ता।

लिव–इन रिलेशनशिप और देर से विवाह– आज के युवा पहले करियर, शिक्षा, और खुद की पहचान को प्राथमिकता देते हैं, जिससे विवाह की उम्र बढ़ रही है। लिव–इन रिलेशनशिप को भी अब समाज में कुछ हद तक स्वीकार्यता मिल रही है ।

ऑनलाइन डेटिंग और तकनीक की भूमिका– पहले विवाह माता–पिता या समाज द्वारा तय किए जाते थे, अब लोग खुद साथी चुनने लगे हैं। सोशल मीडिया और डेटिंग ऐप्स ने इसमें बड़ी भूमिका निभाई है। ऑनलाइन मैट्रीमोनियल साइट्स, डेटिंग ऐप्स और सोशल मीडिया ने जीवनसाथी चुनने के तरीके को पूरी तरह बदल दिया है। समुदाय को पहचान मिलने के साथ, विवाह अब लैंगिक सीमाओं से परे जाकर, प्रेम और सहमति के आधार पर मान्य होने लगा है।

पारिवारिक दबाव में कमी– पहले माता–पिता के फैसले को अंतिम माना जाता था, अब बच्चे अपने फैसले खुद लेना चाहते हैं। इससे विवाह के स्वरूप में लचीलापन आया है।

बदलते समय में विवाह का विन्यास– वर्तमान समय में विवाह का स्वरूप केवल सामाजिक संस्था न

होकर व्यक्तिगत निर्णय और भावनात्मक जुड़ाव पर केंद्रित हो गया है। अब विवाह में समानता, स्वतंत्रता और समझदारी को अधिक महत्व दिया जाने लगा है।

महिलाओं की भूमिका में परिवर्तन–महिलाएं अब केवल गृहिणी नहीं, बल्कि करियर और निर्णयों में बराबर की भागीदार हैं। इससे वैवाहिक संबंधों में संतुलन और संवाद बढ़ा है। विवाह की उम्र में वृद्धि करियर और शिक्षा को प्राथमिकता देने के कारण युवक–युवतियाँ देर से विवाह करना पसंद कर रहे हैं। अब लोग साथी का चुनाव स्वयं करना चाहते हैं। लिव–इन संबंधों को भी कुछ हद तक समाज में स्वीकृति मिल रही है।

व्यक्तिगत पसंद– युवा पीढ़ी अब विवाह में व्यक्तिगत पसंद को महत्व दे रही है, जिससे प्रेम विवाह और जीवनसाथी के चुनाव में अधिक स्वायत्तता देखी जा रही है।

समलैंगिक विवाह– समलैंगिक विवाह की स्वीकृति ने विवाह की परिभाषा को व्यापक बनाया है और विवाह के पारंपरिक रूपों को चुनौती दी है।

सहवास– सहवास जैसे नए विवाह विकल्पों का उदय हुआ है, जो विवाह के पारंपरिक रूपों से अलग हैं।

अंतरजातीय विवाह–अंतरजातीय विवाह की बढ़ती प्रवृत्ति ने विवाह के पारंपरिक रूपों को चुनौती दी है और विवाह की सामाजिक संरचना में बदलाव किया है।

पुनर्विवाह–विधवाओं के पुनर्विवाह की स्वीकृति ने विवाह के पारंपरिक रूपों को और अधिक लचीला बना दिया है।

निष्कर्ष– विवाह एक जीवंत सामाजिक संस्था है, जो समय के साथ अपना स्वरूप बदलती रही है। आज यह केवल परंपरा का पालन नहीं, बल्कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता, समानता और साझेदारी पर आधारित एक नया विन्यास ले चुका है। हालांकि इस परिवर्तन के साथ चुनौतियाँ भी आई हैं जैसे– वैवाहिक जीवन में अस्थिरता, तलाक की बढ़ती दरें आदि फिर भी विवाह का मूल उद्देश्य, प्रेम, साथ और सहयोग, आज भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना पहले था।

विवाह एक गतिशील सामाजिक संस्था है जो समय के साथ बदलती रही है। भारत में, आधुनिकीकरण, शहरीकरण, शिक्षा, लैंगिक समानता और कानूनी और सामाजिक ढाँचे में बदलाव ने विवाह की प्रथाओं को प्रभावित किया है। युवा पीढ़ी अब विवाह में अधिक व्यक्तिगत पसंद और स्वतंत्रता चाहती है, जिससे विवाह के पारंपरिक रूपों में बदलाव आ रहा है।

7.4 विवाह में बदलाव के प्रमुख कारण

विवाह (शादी) संस्था में समय के साथ कई बदलाव आए हैं, और इसके पीछे कई सामाजिक, आर्थिक, और सांस्कृतिक कारण हैं।

आधुनिकीकरण और शहरीकरण– आर्थिक विकास और शहरीकरण ने युवा पीढ़ी को विवाह के बारे में अलग–अलग सोचने के लिए प्रेरित किया है।

शिक्षा और जागरूकता— शिक्षा और जागरूकता के बढ़ने से, युवा पीढ़ी विवाह के बारे में पारंपरिक विचारों से हटकर, अपने विचारों और इच्छाओं को महत्व दे रही है।

लैंगिक समानता— लैंगिक समानता के प्रति बढ़ती जागरूकता के कारण, महिलाएं अब विवाह में अधिक समानता और व्यक्तिगत पसंद की मांग कर रही हैं।

वैध कानूनी और सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन— शादी के लिए कानूनी और सामाजिक ढाँचे में बदलाव, जैसे कि बाल विवाह और दहेज पर प्रतिबंध, ने विवाह के पारंपरिक रूपों को प्रभावित किया है।

आर्थिक परिवर्तन— आर्थिक विकास और जीवन शैली में बदलाव ने विवाह के पारंपरिक रूपों को प्रभावित किया है, जैसे कि अब एकल परिवार की बढ़ती प्रवृत्ति ।

शिक्षा का प्रसार— पुरुषों और महिलाओं दोनों की शिक्षा का स्तर बढ़ा है, जिससे वे अपने अधिकारों और विकल्पों के प्रति अधिक जागरूक हुए हैं।

आर्थिक स्वतंत्रता— विशेषकर महिलाओं की आर्थिक स्वतंत्रता ने उन्हें विवाह को ज़रूरी संस्था की बजाय एक विकल्प के रूप में देखना सिखाया है।

शहरीकरण और जीवनशैली में बदलाव— शहरी जीवन ने पारंपरिक संयुक्त परिवार की जगह एकल परिवार को बढ़ावा दिया है। इससे विवाह की धारणा और अपेक्षाएँ बदली हैं।

समाज में लचीलापन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता— अब लोग अपने जीवनसाथी का चुनाव खुद करना पसंद करते हैं। प्रेम विवाह और अंतरजातीय विवाह अधिक सामान्य हो गए हैं।

कानूनी और सामाजिक सुधार— बाल विवाह, जबरदस्ती विवाह, और दहेज प्रथा जैसे कुप्रथाओं के खिलाफ कानून बने हैं, जिससे विवाह का स्वरूप बदला है।

डिजिटल युग और सोशल मीडिया— अब साथी खोजने के लिए डेटिंग ऐप्स और मैट्रिमोनियल साइट्स का इस्तेमाल बढ़ गया है, जिससे परंपरागत तरीकों में बदलाव आया है।

महिलाओं की भूमिका में बदलाव— महिलाएं अब केवल "गृहिणी" की भूमिका तक सीमित नहीं हैं, बल्कि वे बराबरी से करियर और निर्णयों में भागीदारी कर रही हैं।

7.5 मुस्लिम विवाह

मुसलमानों में विवाह के लिए निकाह शब्द का प्रयोग किया जाता है। मुस्लिम विवाह की परिभाषा देते हुये डी. एफ मुल्ला कहते हैं निकाह (विवाह) एक शिष्ट सामाजिक समझौता है जिसका उद्देश्य संतान उत्पन्न करना एवं उनको वैध घोषित करना हैं। के. एम. कापड़िया मानते हैं कि इस्लाम में विवाह एक अनुबन्ध है जिसमें दो साक्षियों के हस्ताक्षर होते हैं। इस अनुबन्धन का प्रतिफल मेहर" वधू को दिया जाता हैं। इसकी रकम कानून द्वारा निर्धारित नहीं होने से एक दीनार से ऊपर घटती बढ़ती रहती है।

7.6 मुस्लिम विवाह एक सामाजिक समझौता हैं।

मुस्लिम विवाह धर्मिक कृत्य नहीं है बल्कि एक धर्म निरपेक्ष बंधन है। साहचर्य की निधि अर्थात चचेरे भाई–बहनों और प्राथमिक समान्तर नातेदारों में भी विवाह हो सकता है। कुछ मुसलमान पुरुष अनेक

स्त्रियों से विवाह कर सकता है। शर्त केवल यह है कि दो बहनें या बुआ और भतीजी एक ही व्यक्ति की पत्नी नहीं हो सकती और एक समय में कोई व्यक्ति चार से अधिक पत्नियाँ नहीं रख सकता। मुसलमान अपनी दिवंगत पत्नी की बहन से या अपने बच्चों के सास–ससुर से शादी कर सकते हैं। मुसलमान गैर–मुस्लिम स्त्री से भी शादी कर सकता है अगर वह यहूदी या ईसाई जैसे किसी गैर–मूर्तिपूजक धर्मिक संप्रदाय से संबंधित है। और यह सहमति अनिवार्य है अगर पति और पत्नी संबंध विच्छेद आपसी सहमति के आधर पर होता है तो इसे 'मुबारत' कहा जाता है। कुछ खास परिस्थितियों में इस्लाम पत्नी को एक पक्षीय कदम उठाने की अनुमति देता है। विधवा स्त्री का पुनर्विवाह भारतीय मुसलमानों में आमतौर पर प्रचलित है।

7.7 मुस्लिम विवाह के प्रकार

1. वैध विवाह– ऐसा विवाह जो मुस्लिम विवाह की समस्त शर्तों को पूरा करते हुये किये गये हैं वैध विवाह कहते हैं। हमारे देश के अधिकांश मुसलमानों में विवाह के इसी स्वरूप का प्रचलन हैं। इस विवाह की प्रकृति आम तौर पर तब तक स्थायी होती है जब तक कि कोई पक्ष दूसरे पक्ष को तलाक नहीं दे। इस प्रकार के विवाह में वर और की वधू स्वीकृति आवश्यक होती है। नाबालिग होने की स्थिति में संरक्षक की अनुमति/स्वीकृति आवश्यक होती है। प्रत्येक पक्ष एक साक्षी होता है तथा काजी की उपस्थिति अनिवार्य होती है। शरीयत के अनुसार अन्य आवश्यक शर्तें पूर्ण करते हुए विवाह किया जाता हैं।

2. मुताह विवाह–इस विवाह की प्रकृति अस्थायी होती है अर्थात् यह विवाह पति और पत्नी के बीच एक निश्चित अवधि के लिये किया गया समझौता है जैसे ही समझौते की अवधि समाप्त होती है विवाह सम्बन्ध भी समाप्त हो जाता है मुताह विवाह में भी मेहर की रकम निश्चित की जाती है जिसे विवाह की अवधि समाप्त होते ही पति पत्नी को चुकाता है। इस विवाह के द्वारा उत्पन्न सन्तान को वैध माना जाता है तथा उसका पिता की सम्पत्ति पर अधिकार भी होता है। वर्तमान समय में इस विवाह का प्रचलन समाप्त होता जा रहा है।

7.8 बोध प्रश्न

1 आप विवाह में हुये बदलाव के प्रमुख कारण को बताइये ?

2 मैलिनोवस्की की परिभाषा लिखिए ।

3 बोगार्डस विवाह के बदलते स्वरूपो को बोगार्डस ने क्या परिभाषा दिया है।

7.9 सन्दर्भ सूची

- द टाइम्स ऑफ इंडिया में प्रकाशित दीपांकर गुप्ता के लेख पर आधारित। 10 जून, 2023
- रुचिता खुराना भारत में विवाह संस्था के बदलते प्रतिमान AIJRA Vol. IX Issue III A www.ijcms2015.co ISSN 2455-5967
- डी. एन. मजूमदार और टी. एन. मदान (1960), एन इंट्रोडक्शन टू सोशल एंथ्रोपोलॉजी, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बॉम्बे।
- जी एस घुर्ये (1950), कास्ट, क्लास एंड ऑक्यूपेशन, पॉपुलर बुक डिपो, बॉम्बे।

- पी.गिस्बर्ट (1973), फंडामेंटल ऑफ सोशियोलॉजी, ओरिएंट ब्लैकस्वान प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।
- एस. वी. केतकर (1909), द हिस्ट्री ऑफ कास्ट इन इंडिया, रावत प्रकाशन, जयपुर।
- मित्र, के.के. (संपा.), (1994) डी फ़ैमिली इंडियन। नई इंदिरा दिल्ली गांधी मानव संग्रहालय।
- हार्टमैन, ए एव लीलैंड, जे (1993) फ़ैमिली सेंटर सोशल वर्कशॉप अभ्यास। लंदन फ्री प्रेस।
- रॉय पी.के (2000) डि इंडियन फ़ैमिली, चांग और पर्सपेक्टिव।नई दिल्ली ज्ञान पब्लिशिंग हाउस।

इकाई – 8
नातेदारी–I

इकाई की रुपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 नातेदारी की परिभाषा

8.3 भारत में नातेदारी के अध्ययन–संबंधी प्रमुख दृष्टिकोण

8.3.1 प्राचीन ग्रंथो पर आधारित दृष्टिकोण

8.3.2 नृशास्त्रीय दृष्टिकोण

8.4 नातेदारी के आयाम

8.5 उत्तर भारत में नातेदारी

8.5.1 नातेदारी समूह

8.5.2 नातेदारी संबंधी शब्दावली

8.5.3 विवाह नियम

8.5.4 नातेदारों में औपचारिक उपहारों के अदान–प्रदान

8.6 सारांश

8.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

8.8 बोध प्रश्न

8.9 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

8.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करने के पश्चात आप जान सकेंगे–

- नातेदारी पद्धति को परिभाषित करना।
- नातेदारी के अध्ययन सम्बन्धी प्रमुख दृष्टिकोणों को जानना।
- नातेदारी की शब्दावली को विस्तृत जानकारी।
- उत्तर भारत में नातेदारी के आयामों के बारे में वर्णन करना।

8.1 प्रस्तावना

मनुष्य समाज में अकेला नहीं रहता। जन्म से मृत्यु तक वह अनेक व्यक्तियों द्वारा घिरा हुआ होता है। इन व्यक्तियों में से कुछ उसके संबंधी, कुछ मित्र, कुछ पड़ोसी होते है तथा शेष अन्य उसके लिए अपरिचित होते हैं। जिन व्यक्तियों से उसका संबंध होता है, यह संबंध खून अथवा विवाह से उत्पन्न व्यक्तियों को एक समूह में बांधता है, नातेदारी कहा जाता है। मानव विज्ञान शब्दकोश के अनुसार, नातेदारी प्रणाली में कल्पित तथा वास्तविक वंशानुगत बंधनों पर आधारित समाज द्वारा मान्य सम्बन्धों को सम्मिलित किया जाता है। ऐसे सम्बन्ध सामाजिक अन्तःक्रिया के परिणाम एवं समाज द्वारा मान्य होते है।

8.2 नातेदारी की परिभाषा

नातेदारी व्यक्तियों का एक ऐसा वर्ग है, जिन्हें रक्त संबंध या वैवाहिक संबन्ध के कारण नातेदार या संबंधी माना जाता है। समाजशास्त्र में रक्त संबन्धों को व्यक्त करने के लिए तकनीकी शब्द ''समरक्तता'' का प्रयोग किया जाता है और इसी प्रकार विवाह से होने वाले सभी संबंध को व्यक्त करने के लिए ''विवाह संबंध'' का प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए माता और पुत्र/पुत्री, भाई–बहन, पिता–पुत्र/पुत्री के बीच समरक्त संबंध है। जबकि श्वसुर/सास और वधू/दामाद के बीच वैवाहिक संबंध है।

8.3 भारत में नातेदारी के अध्ययन संबंधी प्रमुख दृष्टिकोण

भारत में नातेदारी पद्धति के समाजशास्त्रीय अध्ययन में विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त जानकारी के आधार पर वर्णन करते हैं। दृष्टिकोणों को व्यापक तौर पर दो शीर्षको में वर्गीकृत किया जा सकता है।

1. प्राचीन ग्रन्थों पर आधारित दृष्टिकोण तथा
2. नृशास्त्रीय दृष्टिकोण

8.3.1 प्राचीन गन्थों पर आधारित दृष्टिकोण

समाजशास्त्रीय अध्ययनों में हमारी संस्थाओं के वैचारिक और विधिक आधारों की व्याख्या करने के लिए प्राचीन पुस्तकों का उपयोग किया गया है। उदाहरण जैसे के.एम.कपाड़िया (1947) में हिन्दू नातेदारी के विवेचन में प्राचीन ग्रंन्थों का उपयोग किया। पी.एन. प्रभु की पुस्तक ''हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन'' भी संस्कृत के मूल ग्रंथो पर आधारित है। इसी प्रकार जी.एस.धुर्ये ने विस्तार से भारतीय नातेदारी पद्धति का विवेचन किया है। धुर्ये ने सामाजिक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भारत के विभिन्न क्षेत्रों में नातेदारी पद्धति की व्याख्या की है और मूल पुस्तक का उपयोग किया है।

8.3.2 नृशास्त्रीय दृष्टिकोण

नृशास्त्रीय दृष्टिकोण के अन्तर्गत वंशक्रम व विवाह जैसी नातेदारी संस्थाओं का वर्णन किया है।

i- **वंशक्रम दृष्टिकोण**– भारतीय समाज में नातेदारी का उपयोग स्पष्ट रूप से सामूहिक सामाजिक इकाई की स्थापना के लिए होता है। सभी लोग एक दूसरे के निकट संबन्धों से जुड़ें होते हैं तथा

एक दूसरे का सहयोग करते हैं। ऐसे परस्पर सहयोग करने वाले वर्ग सदैव माँ, पिता तथा बच्चों के परिवार से कहीं अधिक बड़े होते हैं। जब इन समूहों को समान वंशक्रम के आधार पर मान्यता दी जाती है या उसकी व्याख्या की जाती है तब नृशास्त्रीय इन्हें वंशक्रम समूह कहते हैं।

निम्नलिखित वंशक्रम समूह इस प्रकार है:

i- पितृवंशीय

ii- मातृवंशीय

iii- द्विवंश परम्परा

iv- उभय पक्षीय

v- समान्तर वंशक्रम

vi- वैकल्पिक वंशक्रम

ii- विवाह संबंध से उत्पन्न नातेदारी का दृष्टिकोण– विवाह संबंध से उत्पन्न रिश्तेदारी नातेदारी के अध्ययन में विवाह के विन्यासों और नियमों की विवेचना को भी शामिल किया जाता है। जब कोई समाजशास्त्रीय स्त्री नातेदारी के इन पहलुओं पर विशेष ध्यान देता है तो हम कहते है कि वह नातेदारी के विन्यास को समझने के लिए विवाह सम्बन्ध से उत्पन्न रिश्तेदारी के दृष्टिकोण का अनुसरण कर रहा है। सामान्य रूप से भारत में नातेदारी के क्षेत्र विशेष रूप से दक्षिण भारत में नातेदारी पद्धति की जानकारी देने में ड्यूमा लुई, (1966) का बहुत महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्होंने दक्षिण भारत में पाई जाने वाली नातेदारी के अध्ययन में नातेदारी की संरचनात्मक प्रणाली का प्रयोग किया है। इस विन्यास का संरचनात्मक प्रणाली द्वारा अध्ययन करने से हमारे सामने नातेदारी की दो श्रेणियां–समानांतर और ममेरे–फुफुरे संबंध विशेष रूप से स्पष्ट होती हैं।

8.4 नातेदारी के आयाम

नातेदारी के प्रमुख आयाम निम्न हैः

i- **नातेदारी समूह**– नातेदारी के संबंध एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हैसियत और संपत्ति को अंतरण का तरीका प्रदान करते हैं और सहयोग और संघर्ष के प्रयोजनों के लिए प्रभावी सामाजिक वर्ग भी बनाते हैं। यही कारण है कि हमें वंश परम्परा या किसी के रिश्तों का पता लगाने के तरीकों को जानना जरूरी है। सहयोग संघर्ष के विन्यास को समझने के लिए हमें नातेदारी समूहों के वर्णन करने की जरूरत पड़ती है।

ii- **नातेदारी शब्दावली** – रिश्ते को व्यक्त करने के लिए लोगो द्वारा प्रयुक्त शब्दों की सूची नातेदारी पद्धति के विवेचन स्वरूप को व्यक्त करती है। इसलिए नातेदारी शब्दावली के वर्णन द्वारा नातेदारी पद्धति का विवेचन भी किया जा सकता है। किसी भी समाज की नातेदारी पद्धति के अधिकांश लक्षण उस समाज में प्रयुक्त नातेदारी के शब्दों के रूप में झलकते हैं।

iii- **विवाह नियम**– विवाह नियमों में कुछ वर्ग ऐसे होते हैं जो आपस में एक दूसरे से विवाह कर सकते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जो विवाह संबंध नहीं कर सकते हैं। विवाह के पश्चात् वधू पक्ष के बीच के रिश्ते ऐसे सूत्रों को बनाते हैं जिनके अन्तर्गत नातेदारी के संबंध का व्यवहार रूप हम देख सकते हैं। इन रिश्तों के बारे में चर्चा करने पर हमें नातेदारी के ताने–बाने अच्छी तरह समझ में आ सकते हैं।

iv- **उपहारों का अदान–प्रदान**– समाजशास्त्रीय विभिन्न श्रेणी के नातेदारों के बीच पाए जाने वाले सामाजिक संबंधो का विवेचना किया करते हैं। किसी भी रिश्ते को बताने के लिए सदा दो शब्द होते है इसलिए नातेदारी व्यवहार का वर्णन इन युगल शब्दों के रूप में ही किया जाता है जैसे– माता–पिता–बच्चा, यह रिश्ता दो पीढ़ियों के बीच पाए जाने वाला नातेदारी गत व्यवहार को व्यक्त करता है।

v- **नातेदारी का आरेख**– नातेदारी पद्धतियों के आयामों से संबन्धित इस भाग को समाप्त करने से पहले हम यह वर्णन कर दें कि विभिन्न प्रकार के नातेदारी समूहों, विवाह–नियमों और उनके निहितार्थो को नातेदारी के आरेखों की सहायता से निरूपित करना और अधिक आसान है। नातेदारी के आरेख बनाने के लिए आपको निम्न बातें याद रखनी आवश्यक हैः

i- सर्वप्रथम प्रतीक △ पुरूष के लिए होता है और प्रतीक ○ महिला के लिए होता है।

ii- △ए ○ प्रतीक काले रंग में दिखाये जाने पर पुरूष/महिला का देहांत हो गया है।

iii- प्रतीक [सहोदर संबंध के लिए होता है, जैसे भाई–बहन।

iv-] यह प्रतीक पति–पत्नी अथवा विवाह संबन्ध को व्यक्त करता है।

v- —— वंशत्व या पीढ़ी को व्यक्त करता है।

8.5 उत्तर भारत में नातेदारी

भारत में पाई जाने वाली नातेदारी पद्धतियों का विवेचन करने के प्रयोजन से इरावती कर्वे (1953:93) ने देश को चार सांस्कृतिक क्षेत्रों में बाँटा हैं। ये सांस्कृतिक क्षेत्र हैं : उत्तरी, मध्य, दक्षिणी, पूर्वी। उत्तरी क्षेत्र में उत्तरी हिमालय और दक्षिण में विन्ध्य पर्वत के बीच का क्षेत्र है। इस क्षेत्र में अधिकांश लोग संस्कृत से निकली हुई भाषाओं का प्रयोग करते हैं। सामान्य लक्षणों के आधार पर इस क्षेत्र के समुदायों के नातेदारी संगठनों को विन्यास पर विचार करने का प्रयत्न किया जा सकता है।

i- नातेदारी वर्ग

ii- नातेदारी शब्दावली

iii- विवाह नियम

iv- नातेदारी में औपचारिक उपहारों के आदान–प्रदान

8.5.1 नातेदारी समूह

उत्तर भारत में मोटे तौर पर नातेदारी संगठन एकलवंशीय परम्परा पर आधारित है। उत्तर भारत में अधिकतर पितृवंश परम्परा पर निर्धारित होता है। पितृवंशीय परम्परा के सदस्य अनुष्ठानिक और आर्थिक कार्यों में प्रायः सहयोग देते हैं। वे जीवन के अनुष्ठानिक कार्यों में साथ–साथ भाग लेते हैं। नातेदारी अध्ययन के सैद्धान्तिक दृष्टिकोण के अनुसार हम कह सकते हैं कि इन अध्ययनों में वशंक्रम के दृष्टिकोण का अनुसरण किया गया है। जैसे लेविस, बेरेमन, निकॉलस ने उत्तर भारत के अध्ययन में पाया।

यद्यपि वंश के सदस्य एक दूसरे की सहायता करते हैं, लेकिन उनमें संघर्ष होना भी नातेदारी संबंधों की एक विशेषता है। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सम्पत्ति और सामाजिक प्रस्थिति का हस्तांतरण वंश परम्परा मुख्य रूप से पुरूष वंश परम्परा के अनुसार होती है।

वंश परम्परा प्रायः बर्हिविवाह की इकाई होती है, अर्थात एक ही वंश के लड़के और लड़की आपस में विवाह नहीं कर सकते। हिन्दु समुदायों के बीच इस इकाई को गोत्र के रूप में जाना जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने पिता के गोत्र का होता है वह अपने गोत्र में विवाह नहीं कर सकता।

8.5.2 नातेदारी संबंधी शब्दावली

नातेदारी शब्दावली केवल जैविकीय तथा सामाजिक संबंधों के बारे में ही नहीं बताती है बल्कि वह सामाजिक जीवन के संपूर्ण दर्शन में हमारी मदद करती है।

i- **उत्तर भारतीय नातेदारी शब्दावली का वर्णनात्मक स्वरूप**–नातेदारी शब्दावली नातेदारी के संबंधों की भाषाई अभिव्यक्ति है। उत्तर भारत में पाई जाने वाली नातेदारी शब्दावली को हम वर्णनात्मक पद्धति कह सकते हैं क्योंकि यह नातेदारी शब्दावली वक्ता की दृष्टि से संबंधों का सीधा–सीधा वर्णन करती है। इस शब्दावली के द्वारा बहुत दूरी के नातेदारी संबंधों तक का भी संक्षेप में ठीक–ठीक वर्णन किया जा सकता है। उत्तरभारत में हम देखते हैं कि चचेरे और फुफेरे–ममेरे भाइयों के बीच स्पष्ट अंतर है। भाई के बच्चे भतीजे–भतीजियां कहलाते है और बहन के बच्चे भानजे–भानजियाँ कहलाते हैं।

ii- **सामाजिक व्यवहार**– इरवती कर्वे (1953) ने उत्तर भारत की भाषाओं में नातेदारी शब्दावली की सूची दी है। उन्होंने भारत के विभिन्न भागों में प्रयुक्त नातेदारी शब्दावली का विशेष अध्ययन किया है। उन्होंने उत्तर भारत की भाषाओं की नातेदारी सम्बन्धी शब्दावली की तुलना करके नातेदारी पद्धतियों के विधिक और सैद्धान्तिक पहलुओं पर प्रकाश डाला है।

जैसे सरजूपानी ब्राह्मणों में 'मान' शब्द का अर्थ वर पक्ष से होता है। सैद्धान्तिक शब्दों में 'मान' शब्द वधू–पक्ष के स्तर की तुलना में वर–पक्ष के उच्च स्तर को बतलाता है।

8.5.3 विवाह नियम

विवाह नियमों के अंतर्गत उत्तर भारत में प्रायः सभी को इस बात की पूर्ण जानकारी होती है कि किससे विवाह करना वर्जित है। समाजशास्त्रीय शब्दावली में इस बात को कहा जा सकता है कि उत्तर भारत में विवाह के निषेधात्मक नियम हैं।

गोत्र से बाहर विवाह– उत्तर भारत में सामान्यतया पांच या छह पीढ़ियों तक की वंश परम्परा याद रखी जाती है और इस सीमा रेखा के भीतर विवाह संबंध स्थापित नहीं किये जाते है। ऐसी स्थिति में वंश परम्परा गोत्र में बदल जाती है और गोत्र और गोत्र भाई की बात की जाती है। वास्तव में विस्तृत रूप से प्रयुक्त संस्कृत शब्द गोत्र उपजाति के अन्तर्गत उस समूह का रूप है जिसमें विवाह वर्जित है।

8.5.4 नातेदारों के बीच उपहारों का औपचारिक आदान–प्रदान

व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक ऐसे अवसर आते हैं जब उपहारों का औपचारिक आदान–प्रदान होता है, जिससे विभिन्न श्रेणियों के नातेदारों के बीच नियत व्यवहार को समझने में सहातया मिलती है। आम तौर पर वधू–पक्ष वर–पक्ष की तुलना में अपनी निम्न प्रस्थिति के अनुकूल विवाह के दौरान उपहार देने की प्रक्रिया शुरू कर देता है और बहुत सारे उपहार देता रहता है।

8.6 सारांश

इकाई के अंतर्गत आपने नातेदारी की परिभाषा के बारे में जाना है और भारत में नातेदारी पद्धति के सम्बन्ध में प्रमुख दृष्टिकोणों में पढ़ा है। इस इकाई में उत्तर भारत में पाये जाने वाले नातेदारी विन्यासों के प्रमुख पक्षों को स्पष्ट किया गया है तथा नातेदारी के आयामों की चर्चा की गयी है। इसमें नातेदारी समूहों, नातेदारी शब्दावली, विवाह नियमावली और नातेदारों के औपचारिक आदान–प्रदान के संदर्भ में समझाया गया है।

8.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

- कर्वे, इरावती, (1953), ''किनशिप आर्गेनाइजेशन इन इण्डिया'', दक्कन कॉलेज पोस्ट ग्रेजुएट रिसर्च : पूना।
- दुबे, लीला, (1974), ''सोशियोलॉजी ऑफ किनशिप'', पापुलर प्रकाशनः मुम्बई।
- मदन, टी. एन., (1965), ''फैमिली एंड किनशिप : ए स्टडी ऑफ द पंडित्स ऑफ रूरल कश्मीर'', एशिया पाब्लिशिंग हाउस : नई दिल्ली।

8.8 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

प्र0.1 भारत में नातेदारी के अध्ययन संबन्धी प्रमुख दृष्टिकोणों का वर्णन कीजिए।

प्र0.2 उत्तर भारत में नातेदारी शब्दावली तथा विवाह नियमों को समझाएँ।

प्र0.3 उत्तर भारत में नातेदारी में उपहारों का आदान प्रदान कैसे होता है?

लघु उत्तरीय प्रश्न–

प्र0.1 नातेदारी की परिभाषा क्या है?

प्र0.2 नातेदारी के अध्ययन में नृशास्त्रीय दृष्टिकोण क्या हैं?

प्र0.3 उत्तर भारत में विवाह नियम किस प्रकार के पाये जाते है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

प्र0.1 पितृवंशीय समाज में वंशक्रम किससे चलता है?

(क)	पिता से	(ग)	माता से
(ख)	भाई से	(घ)	बच्चों से

प्र0.2 △प्रतीक क्या दर्शाता है?

(क)	भाई	(ग)	पत्नी
(ख)	पुरुष	(घ)	महिला

प्र0.3 ● प्रतीक से क्या प्रदर्शित होता है–

(क)	पुरुष	(ग)	मृत पुरुष
(ख)	महिला	(घ)	मृत महिला

8.9 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

(1) क

(2) ग

(3) घ

इकाई – 9
नातेदारी–II

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 दक्षिण भारत में नातेदारी

9.2.1 नातेदारी समूह

9.2.2 नातेदारी शब्दावली

9.2.3 विवाह नियम

9.2.4 नातेदारों के बीच उपहारों का औपचारिक अदान–प्रदान

9.3 उत्तर और दक्षिण भारतीय नातेदारी व्यवस्था की तुलना

9.3.1 असमानताएँ

9.3.2 समानताएँ

9.4 उत्तर–पूर्व और दक्षिण–पश्चिम भारत में मातृवंशीय समुदायों में नातेदारी संगठन

9.4.1 मातृवंश परम्परा की व्यवस्था

9.4.2 उत्तर–पूर्व भारत के मातृवंश परंपरा वाले समूह

9.4.3 दक्षिण भारत के मातृवंशीय पंरपरा वाले समूह

9.5 सारांश

9.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

9.7 बोध प्रश्न

9.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

9.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करने के पश्चात आप जान सकेंगे–

दक्षिण भारत में दो मुख्य नातेदारी समूहों पर चर्चा करना।

- दक्षिण भारत में विवाह नियमों की जानकारी करना।
- दक्षिण भारत में नातेदारी शब्दावली की प्रमुख विशेषताओं को समझना।

- दक्षिण भारत में नातेदारी समूहों के बीच आदान–प्रदान किये जाने वाले उपहारों का वर्णन करना।
- उत्तर और दक्षिण भारतीय नातेदारी व्यवस्थाओं के बीच पाई जाने वाली असमानताओं और समानताओं के आधार पर तुलना करना।
- उत्तर पूर्वी और दक्षिण–पश्चिम भारत की मातृवंशीय नातेदारी की चर्चा करना।

9.1 प्रस्तावना

दक्षिण भारत क्षेत्र में भी प्रमुखतः पितृवंश परंपरागत नातेदारी व्यवस्था पायी जाती है, परंतु केरल राज्य इसका अपवाद है जहा मातृवंश परंपरागत नातेदारी व्यवस्था पायी जाती है। उत्तर तथा दक्षिण भारत दोनों ही क्षेत्रों में पितृवंश परंपरागत नातेदारी अधिक पायी जाती है। इसलिए हमने इस व्यवस्था के वर्णन को अधिक स्थान दिया है। इसके साथ ही साथ पश्चिम तथा उत्तर–पूर्वी भारत में पाई जाने वाली मातृवंश परम्परा को मानने वाले समूहों की भी चर्चा की जायेगी।

9.2 दक्षिण भारत में नातेदारी

दक्षिण भारत के अन्तर्गत सामान्यतः कर्नाटक, आन्ध्रप्रदेश, तमिलनाडु और केरल राज्य आते हैं, जहाँ द्रविण परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। इन चार राज्यों वाले क्षेत्रों में हमें एक समान नातेदारी संगठन दिखाई देती है। उत्तर भारत की तरह ही हम दक्षिण भारत में भी नातेदारी के स्वरूप की भिन्नता पाते हैं। इस क्षेत्र में करेल राज्य में वंशक्रम की मातृवंशीय परंपरागत व्यवस्था और अनुलोम विवाह का प्रचलन है। दूसरी तरफ पितृवंश परम्परागत व्यवस्था में भी सामान्य तत्वों के बावजूद इन चारों भाषाई क्षेत्रों की नातेदारी पद्धति सामाजिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से एक दूसरे से पृथक भी है।

9.2.1 नातेदारी समूह

नातेदारी समूह में दो–दो समूह वर्गीकृत किया जा सकता है– पितृवंश वंश परंपरा के नातेदार एवं विवाह संबंधी नातेदार

i- **पितृवंशीय**– उत्तर भारत के समान, दक्षिण भारत में भी अपने पारिवारिक संबंधी नातेदार पितृवंशीय परम्परा से जुड़े होते हैं और उनमें घनिष्ठता होती है। यह घनिष्ठता व सहयोगिता पितृ स्थानीय आवास के नियम से जुड़ी होती है। इस प्रकार वंश और आवास के नियम नातेदारी के समूहों की रचना करने में सहायक होते हैं। के. गाफ (1955) ने अपने अध्ययन में तंजौर जिले के ब्राह्मणों के पितृवंशीय परंपरा वाले समूहों का वर्णन किया जो छोटे–छोटे समुदाय में बँटे थे। प्रत्येक जाति की एक से लेकर बारह तक बहिर्विवाह पितृवंश परंपराएँ एक गांव में मिल जाती हैं।

9.2.2 नातेदारी शब्दावली

दक्षिण भारत में द्रविड़ भाषाएं बोली जाती हैं। द्रविड़ भाषाओं में नाते–संबंधो को बहुत ही स्पष्ट और सीधे ढ़ग से अभिव्यक्त किया जाता है। दक्षिण भारतीय नातेदारी शब्दावली के मुख्य लक्षण लुई ड्यूमा के अनुसार इसमें चचेरे–मौसेरे और ममेरे–फुफेरे भाई–बहन में भेद किया जाता है और इसे वर्गात्मक नातेदारी शब्दावली के अन्तर्गत लिया जाता है।

i- **चचेरे–मौसेरे और ममेरे–फ़फ़ेरे भाई बहन** : चचेरे तथा मौसेरे भाई–बहन वे होते हैं जो एक लिंग के सहोदरों के बच्चे होते हैं। इसका अर्थ यह है कि दो भाइयों अथवा दो बहनों के बच्चे एक–दूसरे के क्रमशः चचेरे–मौसेरे भाई बहन होते हैं। ममेरे–फुफेरे वे होते हैं जो विपरीत लिंग के सहोदरों की संतान होते हैं। अर्थात् एक भाई और एक बहन के बच्चे एक दूसरे के ममेरे–फुफुरे भाई–बहन होते हैं।

दक्षिण भारत में चचेरे–मौसेरे भाई–बहनों के आपस में विवाह नहीं हो सकता जबकि ममेरे–फुफेरे भाई–बहनों के बीच विवाह हो सकता है। दोनों वर्गो को स्पष्ट रूप से पृथक–पृथक रखा गया है।

9.2.3 दक्षिण भारत में विवाह नियम

दक्षिण भारत में नातेदारी व्यवस्था के नियम सकारात्मक हैं इसका अर्थ है कि विवाह में एक खास तरह के संबंन्ध की वरीयता स्पष्ट रूप से बताई गई है और उसका पालन किया जाता है। उत्तर भारत में विवाह के नकारात्मक नियम होते हैं जैसे किस व्यक्ति को किससे विवाह नहीं करना चाहिए। इसके विपरीत दक्षिण भारत में विवाह बिल्कुल स्पष्ट है कि किससे विवाह किया जाना चाहिए या किया जा सकता है।

दक्षिण भारत में तीन प्रकार के अधिमान्य विवाह के नियम हैं। दक्षिण भारत में अनेक जातियों में अपनी बड़ी बहिन की कन्या से विवाह को पहली अधिमान्यता दी जाती है। मातृवंशीय समाजों जैसे नायरो में ऐसे विवाह की अनुमति नहीं है। दूसरे अधिमान्य विवाह के दूसरे वर्ग में अपनी बुआ के कन्या से विवाह आता है इसमें एक स्त्री अपनी मामा के पुत्र से विवाह करती है। इस प्रकार के विवाह में पलटे का सिद्धान्त लागू होता है। तीसरे प्रकार में अपने मामा की पुत्री से विवाह करता है, इस प्रकार का विवाह तमिलनाडु की कतलर, आंध्र प्रदेश के कुछ रेड्डी जातियों में इस प्रकार के विवाह का नियम ही अधिमान्य है।

दक्षिण भारत में विवाह संबन्धों के बारे में प्रतिबन्ध– दक्षिण भारत में विवाह संबन्धों के संदर्भ में अधिमान्यता के नियमों के साथ–साथ कुछ प्रतिबन्ध भी है। कुछ जातियों में एक व्यक्ति अपनी बड़ी बहिन की बेटी से विवाह कर सकता है लेकिन छोटी बहन की बेटी से नहीं। साथ ही एक विधवा अपने दिवंगत पति के बडे भाई या छोटे भाई अथवा उसके वर्गात्मक भाई से कभी विवाह नहीं कर सकती।

9.2.4 नातेदारों के बीच उपहारों का औपचारिक आदान–प्रदान

दक्षिण भारत में कुछ व्यक्तियों द्वारा अन्य व्यक्तियों को या कुछ समूहों द्वारा अन्य समूहों को दिए जाने वाले उपहार दो वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं।

i- वधू के परिवार द्वारा वर के परिवार को दिए जाने वाले उपहार अथवा वर के परिवार द्वारा वधू के परिवार को दिये जाने वाले उपहार विवाह जन्य संबंन्धियों के बीच आदान–प्रदान की श्रृंखला के रूप में देखे जा सकते हैं। यह उपहार विनिमय का पहला वर्ग है।

ii- उपहार के लेन–देन का दूसरा वर्ग इन दोनों समूहों में अलग–अलग अपने दायरे में आपस में होता है।

दक्षिण भारत में उपहारों के औपचारिक आदान–प्रदान में नातेदारी के व्यवहार के संदर्भ में यद्यपि पारस्परिक आदान–प्रदान का तत्व प्रधान है, तथापि वधू–पक्ष के लोगों को वर पक्ष से थोड़ा अधिक

भार उठाना होता है। परन्तु उत्तर भारत उपहार का आदान–प्रदान एक ही दिशा में होता है। दक्षिण भारत में दोनों तरफ से होता है।

9.3 उत्तर और दक्षिण भारतीय नातेदारी की तुलना

9.3.1 असमानताएं

उत्तर भारत में विवाह संबंध से एक परिवार पूर्णतः नए परिवार से जुड़ता है और वास्तव में एक गांव दूसरे गांव से। दक्षिण भारत में अधिकतर विवाह संबन्ध एक छोटे से नाते समूह के बीच ही होता है और पिता तथा माता दोनो पक्षों के सम्बन्धों पर जोर दिया जाता है। इसके अलावा, लगभग कोई क्षेत्रीय बर्हिविवाह नहीं होता। इससे विवाह संबंन्धियों के बीच सह–कार्यकलाप बढ़ते हैं।

नातेदारी समूहों की रचना के आधार पर उत्तर भारत में नातेदारी शब्दावली में रक्त से संबन्धित तथा विवाह से संबन्धित नातेदारी के पृथक्करण पर प्रकाश डाला गया है। दक्षिण भारत में नातेदारी शब्दावली में विवाह सम्बन्धियों के बीच संबंधों की समस्थिति पर जोर दिया जाता है। दक्षिण भारतीय या द्रविण शब्दावली की संरचना वर्गात्मक नाते संबन्धों के सिद्धांत पर आधारित है तथा एक पीढ़ी को चचेरे–मौसेरे और फुफेरे–ममेरे भाई–बहनों में पृथक करती है। दक्षिण भारत में यह विभेद विवाह के संदर्भ में बहुत महत्वपूर्ण है जबकि यह विभेद उत्तर भारत में विवाह संबंधों के लिए महत्वहीन है।

9.3.2 समानताएं

दोनों नातेदारी व्यवस्थाओं में एकल वंशक्रम को मान्यता दी गयी है। उत्तर और दक्षिण भारत दोनों में या तो मातृवंशीय वंशपरम्परा का प्रचलन है अथवा पितृवंशीय वंश परम्परा का प्रचलन है अथवा पितृवंशीय समाज का। समाज चाहे मातृवंशीय हो या पितृवंशीय हो, दोनों ही क्षेत्रों में नातेदारी व्यवस्थाओं द्वारा सामाजिक संबंधो और तंत्रों में विवाह जन्य संबंधो की भूमिका पर विशेष बल देखने को मिलता है। इसका अर्थ यह है कि विवाहों द्वारा स्थापित संबंध दोनों व्यवथाओं में महत्वपूर्ण हैं।

9.4 उत्तर–पूर्व और दक्षिण–पश्चिम भारत में मातृवंशीय समुदायों में नातेदारी संगठन

भारत में मातृवंशीय समुदाय केवल दक्षिण–पश्चिम और उत्तर–पूर्वी क्षेत्रों तक ही सीमित है। उत्तर भारत में मातृवंशीय परंपरा वाले सामाजिक संगठन मेघालय और असम के गारो और खासी जनजातियों में मिलते हैं। दक्षिण भारत में मातृवंशीय परंपरा केरल, कर्नाटक और तमिलनाडु के कुछ भागों में और केन्द्रशासित प्रदेश लक्ष्यद्वीप में पायी जाती है। इन प्रदेशों में हिन्दू और मुस्लमान दोनों के मातृवंश पंरपरागत समूहों में सम्प्राप्ति का उत्तराधिकार माता से पुत्री को प्राप्त होता है।

9.4.1 मातृवंश परंपरा की व्यवस्था

इस व्यवस्था में माता के माध्यम से बच्चों को वंशक्रम का सदस्य बनाया गया है। मातृवंश परंपराक्रम और मातृसत्तात्मक व्यवस्था में अन्तर पाया जाता है। मातृसत्तात्मक व्यवस्था में महिलाओं के पास शक्ति भी रहती है जबकि मातृवंश परपराक्रम में वंशक्रम महिला से चलता है लेकिन आमतौर पर शक्ति उनके पास नहीं रहती है।

मातृवंश परंपरा उन आर्थिक व्यवस्थाओं से आपस में जुड़ी है जो महिलाओं की स्वतंत्रता और उनके रहन–सहन की व्यवस्था करने के उनके अधिकार को मान्यता देती है। इस व्यवस्था में पुरूष शिकार खेलने, लड़ाई करने और व्यापार करने जैसी कुछ आर्थिक गतिविधियों में हिस्सा लेते है जबकि स्त्रियां सामान्य जीवन–यापन के साधन जुटाती है।

9.4.2 उत्तर पूर्व भारत के मातृवंश परंपरा वाल समूह

i- **गारो**– गारो जन जातियों, जो मुख्यतः मेघालय में पायी जाती हैं मातृवंश परंपरा का पुत्रियों द्वारा स्थापित उत्तराधिकार से पता चलता है। यहां मूल गृहस्थी में स्त्री, उसकी पुत्री तथा दामाद होते हैं और पुत्री को उसमें रखकर मूल गृहस्थी को जारी रखा जाता है। अविवाहित बच्चे माता के पास रहते हैं। एक पुत्री मूल घर में तथा अन्य सभी विवाहित पुत्रियां अपनी माता के घर के पास ही अपनी गृहस्थी बसा लेती हैं।

वंशक्रम चलाने और संपत्ति अंतरित करने के मामले में माता वह धूरी है जिसके चारों ओर गारो घूमता है। मातृवंश परंपरा को 'मंचोग' कहा जाता है जिसका अर्थ है एक बस्ती में रहने वाला विस्तारित नातेदारी समूह–मातृवंश या मचांग के सभी सदस्यों का एक ही मां से उद्‌गम होता है।

गारो समूह दो अंशो में बटे है। गारो भाषा में अंश को कट्‌जी कहते है। प्रायः जनजाति समाज इन इकाइयों को 'मरक' और 'संगमा' कहते हैं इन इकाइयों में अंतर्विवाह नहीं होते।

ii- **खासी**– खासी एक मातृवंश परंपरा मानने वाली जनजाति है जो मेघालय की पहाडियों में रहती है। इस जनजाति के लोग वंशक्रम का निर्धारण मातृवंश परंपरा में करते हैं। उनका वंशक्रम मां से चलता है। संपत्ति और उत्तराधिकार भी मां के माध्यम से मिलते है। विवाह के बाद आवास पत्नी स्थानिक होता है । इसका अर्थ है कि विवाह के बाद व्यक्ति अपनी पत्नी के माता–पिता के साथ रहता है। खासी में कुल बहिर्विवाह होते हैं।

उनकी नातेदारी शब्दावली वर्गात्मक हाती है। वे अपनी वंश परम्परा के नातेदारों को उन शब्दों से पुकारते हैं जो शब्द पितृवंश परंपरा के उसी क्रम के नातेदारों के लिए भी लागू होते हैं। जैसे पिता और पिता के भाई के लिए एक ही शब्द का उपयोग करते हैं।

खासी जनजाति में कनिष्ठाधिकार के नियम का पालन किया जाता है। यह उत्तराधिकार की वह व्यवस्था है जिसमें मातृवंशीय परंपरागत समाजों में सबसे छोटी पुत्री को संपत्ति का उत्तराधिकार मिलता है। वह अपने पति व बच्चों के साथ माता–पिता के साथ रहती है। अन्य पुत्रियां सामान्यतः विवाह के बाद अथवा पहले या दूसरे बच्चे के जन्म के बाद परिवार से बाहर चली जाती है। वे नव–स्थानिक रूप में अपने पति व बच्चों के साथ नाभिकीय परिवार में रहती है।

9.4.3 दक्षिण–पश्चिम भारत में मातृवंशी परंपरा वाले समूह

भारत के दक्षिण–पश्चिम प्रदेश में केरल राज्य मातृवंश परंपरा वाले समुदायों का गढ़ रहा है। केरल के नायरो का मातृवंश परंपरा वाला समाज है।

नायरों की नातेदारी संस्थाओं का अनेक नृविज्ञानियों और समाजशास्त्रियों ने वर्णन और विश्लेषण किया है, जिनमें एक फॉसेट (1915), के.एम.पाणिकक्र (1918), एल.के.ए.अय्यर (1912), के.गफ के नाम आते है।

के. गफ (1952) ने बताया कि नायरों में अलग–अलग नामों वाली जातिगत श्रेणियां हैं और उनमें तीन प्रकार की भिन्न–भिन्न नातेदारी व्यवस्था पाई जाती है। मध्य केरल में नायर समुदाय में पत्नी और बच्चों के साथ पति नहीं रहता है, वह केवल उनके पास यदा–कदा आया करता है।

नायरों में कुल और वंश परंपरा के लिए तारवाड शब्द प्रयुक्त होता था। यह शब्द संपत्ति के स्वामित्व वाले समूह के लिए भी प्रयुक्त होता था। तारवाड या वंश परंपरा के सदस्य कन्याओं के यौवनारंभ और विवाह संस्कारों में सहयोगपूर्वक कार्यकलाप सम्पन्न करते थे। इस व्यवस्था में नायर महिलाओं को केरल के दक्षिण–पश्चिम के नंबूदिरी ब्राह्मणों में विवाह की अनुमति थी। वे नायरों के अपने समूह की उच्च जातियों में भी विवाह करते थे जो कि एक प्रकार का अनुलोम विवाह था। जो नंबूदिरी ब्राह्मण किसी नायर महिला से संबंध रखता था वह उस महिला का 'आनुष्ठानिक पति' कहलाता था। इस विवाह से उत्पन्न संतान सदा नायर महिलाओं की वंश पंरपरा की मानी जाती थी।

9.5 सारांश

दक्षिण भारत में पायी जाने वाली नातेदारी व्यवस्था के बारे में विचार किया गया। इस इकाई में नातेदारी समूहों के बारे मे तथा नातेदारी शब्दावली का वर्णन किया गया है। दक्षिण भारत में विवाह संबंधी नातेदारी व्यवथा की चर्चा की गयी है। नातेदारी में उपहारों के औपचारिक अदान–प्रदान की व्यवस्था का वर्णन तथा उत्तर और दक्षिण भारतीय नातेदारी व्यवस्था की तुलना की गयी है। अंत में उत्तर पूर्व और दक्षिण–पश्चिम भारत में मातृवंश परंपरा वाली नातेदारी का वर्णन किया गया है।

9.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- दुबे, लीला, (1969), ''मैट्रिलिनी एंड इस्लाम'', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
- दुबे, लीला, (1974), ''सोशोलॉजी ऑफ किनशिपः एन एनालिटिकल सर्वे ऑफ लिट्रेचर'', पापुलर प्रकाशन, मुम्बई।
- नकाने, ची, (1968), ''गारो एंड खासीः ए कम्परेटिव स्टडी इन मैट्रिलिनियल सिस्टम'' मूटो एंड कंपनी, पेरिस।
- बर्लिग, आर (1963), ''गारो किनशिप टर्म्स एंड दि एनालिसिस ऑफ मीनिंग''।

9.7 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्र0.1 दक्षिण भारत में नातेदारी के स्वरूप का वर्णन कीजिए।

प्र0.2 उत्तर तथा दक्षिण भारत में नातेदारी व्यवस्था की तुलनात्मक विवेचना कीजिए।

प्र0.3 दक्षिण भारत में विवाह नियम किस प्रकार के पाये जाते हैं?

लघु उत्तरीय प्रश्न–

प्र0.1 दक्षिण भारतीय नातेदारी शब्दावली क्या है।

प्र0.2 दक्षिण भारत में विवाह पद्धति क्या है।

प्र0.3 मातृवंशीय परम्परा क्या होती है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्र0.1 समान लिंग के सहोदर बच्चे होते हैं–

(क)	ममेरे–फुफेरे	(ग)	चचेरे–मौसेरे
(ख)	चचेरे–ममेरे	(घ)	फुफेरे–मौसेरे

प्र0.2 गारो जनजाति कहाँ पायी जाती है?

(क)	मेघालय	(ग)	असम
(ख)	केरल	(घ)	तमिलनाडु

प्र0.3 खासी जनजाति वंश परंपरा कैसे पायी जाती है?

(क)	पितृवंशी	(ग)	मातृवंशी
(ख)	उभय वंशीय	(घ)	मातृ–पितृ वंशीय

9.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

(क) ख

(ख) ख

(ग) क

इकाई – 10
ग्रामीण अर्थ–व्यवस्था

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 ग्रामीण अर्थव्यवस्था का तात्पर्य

10.3 परंपरागत ग्रामीण अर्थव्यवस्था

10.4 औपनिवेशिक ग्रामीण अर्थव्यवस्था

10.5 स्वतंत्रता के बाद ग्रामीण अर्थव्यवस्था

10.6 वैश्वीकरण, उदारीकरण तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था

10.7 सारांश

10.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

10.9 सम्बन्धित प्रश्न

(अ) लघु उत्तरीय प्रश्न

(ब) दीर्घ उत्तरीय प्रष्न

(स) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

10.10 प्रश्नोत्तर

10.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करने के पश्चात आप जान सकेंगे–

- ग्रामीण अर्थव्यवस्था के अर्थ को जान सकेंगे।
- परंपरागत और औपनिवेशिक काल में ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था को जान सकेंगे।
- स्वतंत्रता के बाद के विभिन्न सुधार कार्यक्रमों का ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर प्रभाव को जान सकेंगे।
- ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर वैश्वीकरण के प्रभावों का विश्लेषण कर सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

किसी भी कृषि–प्रधान देश की अर्थव्यवस्था वहां की ग्रामीण अर्थ–व्यवस्था पर निर्भर करती है। भारत एक कृषि प्रधान देश है। यहां की अधिकांश जनसंख्या गांवों में निवास करती है और कृषि के द्वारा आजीविका उपार्जित करती है। भारत की कुल राष्ट्रीय आय का 40 प्रतिशत भाग कृषि कार्यों से सम्बन्धित

है और आधे से अधिक उद्योग गांव में उत्पादित कच्चे माल की पूर्ति के द्वारा चलते हैं। कृषि ही रोजगार का सबसे बड़ा आधार है और उद्योग–धन्धों की समृद्धि और ह्रास बहुत बड़ी सीमा तक फसलों की स्थिति से सम्बद्ध है। इससे भारत जैसे देश में ग्रामीण अर्थ–व्यवस्था के महत्व को आसानी से समझा जा सकता है।

10.2 ग्रामीण अर्थ–व्यवस्था का तात्पर्य

अर्थ–व्यवस्था का अर्थ वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन, वितरण एवं उपभोग से लिया जाता है। समग्र उत्पादन प्रणाली से आपसी संबंधों का निर्माण होता है। आपसी सम्बन्धों से आर्थिक जीवन प्रभावित होता है।

व्यक्ति का आर्थिक जीवन विभिन्न कारकों के प्रभाव से परिवर्तित भी होता रहा है। इससे पूरे समाज में परिवर्तन घटित होता है। ग्रामीण समाज भी इससे अछूता नहीं रहा है। इस समाज की जनांकिकी आर्थिक, पारिस्थितिक तथा सांस्कृतिक रूप से मिश्र व्यवस्था है, जिसकी प्रमुख आर्थिक क्रिया कृषि है। भूमिका उत्पादन का स्त्रोत होती है। श्रम, तकनीक एवं उद्यम के संयुक्त उपयोग से कृषि कर उत्पादन किया जाता है। इसके साथ ही इन पर आधारित लघु एवं कुटीर उद्योग के विकास हेतु आधार की प्राप्त होती है।

ग्रामीण अर्थव्यवस्था से तात्पर्य है ग्रामीण क्षेत्रों में मौजूद आर्थिक गतिविधियों और वित्तीय प्रणालियों से, जिनमें कृषि, उद्योग, व्यापार और सेवाएं शामिल हैं.इसमें ग्रामीण रोजगार, मजदूरी, बाजार पहुंच, और वित्तीय प्रणालियों जैसी चीजें शामिल होती है।

ग्रामीण अर्थव्यवस्था में कई महत्वपूर्ण पहलू होते हैं:

कृषि: ग्रामीण अर्थव्यवस्था में कृषि का एक महत्वपूर्ण स्थान है, जहाँ ग्रामीण लोग अपनी आजीविका के लिए कृषि पर निर्भर रहते है।

गैर–कृषि उद्योग: ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि के अलावा अन्य उद्योग, जैसे कि छोटे उद्योग, व्यापार और सेवाएँ भी महत्वपूर्ण है।

बाजार पहुंच: ग्रामीण अर्थव्यवस्थाओं में बाजार तक पहुंच महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह ग्रामीण लोगों को अपनी उत्पाद और सेवाओं को बेचने और खरीदने में मदद करती है।

वित्तीय प्रणालियाँ : ग्रामीण क्षेत्रों में वित्तीय प्रणालियाँ, जैसे कि बैंक, सहकारी समितियाँ और सूक्ष्म वित्त, ग्रामीण लोगों को ऋण और वित्तीय सेवाएं प्रदान करने में मदद करती है।

रोजगार और मजदूरी: ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार और मजदूरी ग्रामीण लोगों की आय और जीवन स्तर को प्रभावित करते है।

ग्रामीण अर्थव्यवस्था का अध्ययन और विश्लेषण ग्रामीण विकास और आर्थिक विकास की नीतियों को विकसित करने में मदद कर सकता है. ग्रामीण अर्थव्यवस्था को मजबूत करने से ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी कम हो सकती है, और लोगों के जीवन स्तर में सुधार हो सकता है।

10.3 परंपरागत ग्रामीण अर्थ–व्यवस्था

भारत में ग्रामीण अर्थ–व्यवस्था का प्रमुख आधार कृषि है। 2011 की जनगणना अनुसार कृषि पर 69 प्रतिशत ग्रामीण जनसंख्या निर्भर है। कुल श्रमशक्ति के 58 प्रतिशत अपने रोजगार के लिए कृषि पर ही आश्रित हैं। तीव्र औद्योगिक विकास के बावजूद भी सी0डी0पी के 17 प्रतिशत भाग का सृजन कृषि व प्राथमिक क्षेत्र से होता है। यही कारण रहा है कि भारत में कृषि, ग्रामीण अर्थ–व्यवस्था के आधार के रूप में प्राचीन समय से महत्वपूर्ण रही हैं।

भारत में परंपरागत ग्रामीण अर्थ–व्यवस्था का स्वरूप अत्यधिक सरल था। सिंधु घाटी की सभ्यता (2600–1500 ई0पू0) के विभिन्न स्थलों लोथल, मोहनजोदड़ों एवं रोपड़ आदि से जो प्रमाण मिलते हैं उनसे ज्ञात होता है कि सिन्धु तथा इसकी सहायक नदियों से निर्मित उपजाऊ तराई क्षेत्रों में लोग गेहूँ, चावल, मटर, सरसों, तिल और रुई जैसे फसलों की खेती करते थे। इससे न केवल शहरी लोगों को खाद्यान्न आपूर्ति होती थी बल्कि पशुपालन को भी बढ़ावा मिलता था। फलतः ऋग्वैदिक काल (1500 ई0– 1000 ई0पू0) में पशुपालन को अधिक महत्व मिला। उन्होंने हल द्वारा खेत जोतने के लिए बैलों का प्रयोग शुरू कर दिया। वे कला, दस्तकरी तथा चमड़े का काम भी करते थे। समाज व्यवस्था समानता पर आधारित थी। उत्तरवैदिक काल (1000–600 ई0पू0) तक समाज में वर्ण तथा जाति व्यवस्था का उद्भव हो गया। फलतः श्रम के कार्यात्मक विशेषीकरण से कृषि अर्थव्यवस्था को लाभ हुआ।

बौद्ध काल में (600–322 ई0पू0) कृषि तथा शिल्पकला में लौह धातु का प्रयोग शुरू हो गया। हल के फाल, कुल्हाड़ी छूरी, हंसिया तथा अन्य औजारों का प्रयोग हुआ। विभिन्न फसलों की पैदावार भी व्यापक होने लगी। लेकिन जमीन का अधिकांश भाग पर भूपति के रूप में ब्राह्मण एवं क्षत्रिय का अधिकार रहा। कुलीन वर्ग के लोग, व्यापारी, सिपाही तथा दस्तकार नगरीकरण के विकास के कारण नगरों में रहने लगें, लेकिन उनके लिए अनाज की आपूर्ति ग्राम से ही होती थी। मौर्य्यकाल में (322–200 ई0पू0) कृषि पर राज्य का नियंत्रण हो गया। बड़े कृषि क्षेत्र, राज्य द्वारा ही संचालित किये जाते थे जहाँ शूद्र वर्ण के लोग कृषि मजदूर या दास के रूप में कार्यरत थें। गुप्तकाल में सामंता समाज का उद्भव हुआ, जो औपनिवेशिक काल के प्रारंभ तक बना रहा। गुप्तकाल के राजाओं द्वारा जमीन, अनुदान के रूप में सामंतों तथा विशेष व्यक्तियों को दी जाती थी। इस प्रथा से राजा एवं किसान के बीच मध्यम वर्ग को प्रश्रय मिला। यह मध्यस्थ वर्ग किसानों से जमीन का किराया वसूल करता था और वसूल की गयी राशि का बहुत कम हिस्सा ही राजा को देता था। यह वर्ग ही आगे चलकर जमींदार व भूपति के रूप में जाना जाने लगा।

मध्यकाल में ग्रामीण अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषता कृषि एवं लघुउद्योग का संतुलित मिश्रण था। उत्पादन स्थानीय उपभोग के लिए किया जाता था परन्तु ग्रामीण क्षेत्र में उत्पादित वस्तुओं को स्थानीय व्यापार में भी स्थान दिया जाने लगा। ग्रामवासी नमक, लोहा या कुछ अन्य उपभोग की वस्तु ही बाहर से खरीदते थे। गाँव के स्तर पर लेन–देन नगद पर निर्भर न करके जजमानी प्रथा में भुगतान की प्रणाली वस्तु के रूप में होती थी। मध्यकाल में ग्रामीण जनसंख्या दो वर्गों बड़े जमींदार और जनसाधारण में बंट गयी। बड़े जमींदार कर–मुक्त जीवन जीते थे तथा किसानों से भू–राजस्व लेते थे। जन साधारण वर्ग ग्रामीण जनसंख्या का सर्वाधिक बड़ा भाग था जिसमें किसान, कारीगर और श्रमिक सम्मिलित थें। लेकिन प्रभुता वस्तुतः जमींदार वर्ग का होता था। सल्तनत काल में इन्हें मुकद्दमा और चौधरी तो मुगलकाल में देशमुख,

पाटिल, नायक और मालिक कहा जाता था। गांव की भूमि पर इनका अधिकार था तथा ग्रामीणों को ये विभिन्न शर्तों पर अपनी भूमि जोतने के लिए देते थे। इस प्रकार बिना श्रम किये हुए ही उपज का एक बड़ा भाग इन्हें प्राप्त हो जाता था।

10.4 औपनिवेशिक ग्रामीण अर्थ—व्यवस्था

औपनिवेशिक शासनकाल में ग्रामीण अर्थव्यवस्था की महत्वपूर्ण विशेषता औद्योगिकरण में कमी, नयी भूमि व्यवस्था जैसे जमींदारी, रैयतवाड़ी तथा महालवारी और कृषि का व्यापारीकरण आदि था।

रैयतवारी व्यवस्था की स्थापना 1792 में थामस मुनरो द्वारा मद्रास में की गयी। बाद में धीरे—धीरे यह व्यवस्था देश के अन्य भागों में लागू कर दी गयी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत किसान जिस भूमि पर खेती करता था, उसका मालिका वही था। वह भूमि को बेंच सकता था, बंधक रख सकता था या किसी अन्य व्यक्ति को खेती के लिए दे सकता था। सरकार से उसका सीधा सम्बन्ध था लेकिन जब तक वह सरकार को लगान देता रहता था तभी तक भूमि पर उसका स्वामित्व बना रहता था। महालवारी व्यवस्था 1833 में लागू की गयी। यह आगरा, अवध, पंजाब और मध्यप्रदेश में मुख्य रूप से प्रचलित थी। इस व्यवस्था में भू—स्वामित्व के दृष्टिकोण से सभी ग्रामीणों को समान महत्व दिया जाता था। कोई व्यक्ति एक पृथक भूमि का मालिक न होकर संपूर्ण गांव संयुक्त रूप से एक विशेष भू—भाग का मालिक होता था। मालगुजारी वसूल करने के लिए सरकार की ओर से नम्बरदारों की नियुक्ति की जाती थी।

भूमि का स्थायी बन्दोवस्त करने के लिए सन् 1793 में लार्ड कार्नवालिस ने बहुत से जमींदारों को नियुक्त किया। जमींदार सरकार और किसान के बीच कड़ी थे और ब्रिटिश शासन के विश्वासपात्र नागरिक थे। ये कृषकों से टैक्स के रूप में जितना ज्यादा उपज और कर ले सकते थे, लेते थे। परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश शासन के दौरान कृषि उत्पादन कम होने लगा। विपिन चन्द्र के अनुसार अत्यधिक भू—राजस्व की मांग, जमींदारी व्यवस्था में बढ़ोत्तरी तथा किसानों के बढ़ते ऋण और गरीबी के कारण भारतीय कृषि की गति मंद हो गई और उसमें भारी गिरावट आई। सम्पूर्ण ग्रामीण अर्थ—व्यवस्था टूटने के कगार पर आ गयी।

ब्रिटिशकाल के विभिन्न बदलाव से जजमानी व्यवस्था में विघटन प्रारंभ हुआ। जजमानी व्यवस्था में पुस्तैनी तौर पर एक जाति का सदस्य दूसरी जाति को अपनी सेवाएं परम्परागत आधार पर प्रदान करता है। बदले में जजमान लोग सेवा करने वाली जातियों को आर्थिक संरक्षण प्रदान करते थे। गांवों की प्रभु जातिया तथा साधन—सम्पन्न सेवा लेने वाले व्यक्ति जजमान तथा सेवा देने वाले कमीन कहलाते थे।

कमीन जाति में— बढ़ई, लुहार, कुम्हार, नाई, चमार आदि थे वहीं जजमान/श्रेणी में राजपूत, भूमिहार तथा जाट और दक्षिण में कामा, रेड्डी तथा लिंगायत आदि जातियाँ थी। विलियम वाइजर प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने ग्रामीण भारत में इस प्रथा का उल्लेख किया है। वाइडलमैन और ऑस्कर लेविस जैसे विद्वान जजमानी व्यवस्था को शोषक—शोषित संबंध मानते हैं। आज भी गांवों में बहुत से परिवार इस व्यवस्था से जुड़े हैं, परंतु समय के साथ—साथ आधुनिक काल में यह व्यवस्था कमजोर होती जा रही है। ग्रामीण क्षेत्र के अनेक बदलाव जैसे—कृषि का व्यापारीकरण और पूँजीवादी खेती का विकास, वेतन मजदूरी, शहरी शिक्षा, जाति और व्यवसायिक परिवर्तन आदि से ग्रामीण जीवन में परिवर्तन हो रहे हैं, लेकिन अनेक परिवर्तनों के पश्चात् भी ग्रामीण अर्थ—व्यवस्था अपने मौलिक स्वरूप से अधिक दूर नहीं हट सकी।

10.5 स्वतंत्रता के बाद ग्रामीण अर्थ–व्यवस्था

भारत में आजादी के बाद ग्रामीण अर्थ–व्यवस्था में सुधार के लिए अनेकों प्रयास किये गये। नियोजित विकास के कार्यक्रमों की तरफ ध्यान केन्द्रित किया गया। कृषिकीय सुधारों के साथ ही औद्योगिकरण को महत्व दिया गया। 1951 में कानून बनाकर जमींदारी प्रथा का उन्मूलन किया गया। काश्तकारी सुधार के अन्तर्गत लगान का नियमन किया गया। किसानों को भूमि का एक संयुक्त चक देने के लिए चकबन्दी कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया। जोत की अधिकतम सीमा निर्धारित की गयी। खाद्यान्न में आत्म निर्भरता तथा ग्रामीण गरीबी को समाप्त करने के लिए अनेकों प्रयास किये गये। 1960–के दशक में प्रारंभ हरित क्रांति का ग्रामीण अर्थ–व्यवस्था पर व्यापक प्रभाव रहा है। हरित क्रांति कृषि आधुनिकीकरण का एक सरकारी कार्यक्रम था। इस कार्यक्रम की लहर पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, तटीय आंध्र प्रदेश आदि राज्यों में ज्यादा चली तथा इसके परिणाम स्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों में अनेक प्रभावशाली रूपांतरण हुए, जैसे–

(1) कृषि के क्षेत्र में उत्पादन बढ़ा।

(2) कृषि में यंत्रीकरण के प्रयोग से ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी बढ़ी और नगरीय पलायन को बढ़ावा मिला।

(3) कृषि लागत में वृद्धि हुई। धनी और धनी तथा गरीब और गरीब होते गए।

(4) क्षेत्रीय विषमताओं में वृद्धि हुई। जहाँ तकनीकी परिवर्तन हुए वे क्षेत्र अधिक विकसित हुए जबकि अन्य पूर्ववत् रहे।

(5) भुगतान में नगद का प्रचलन बढ़ा तथा जजमानी व्यवस्था कमजोर हुई।

(6) मुक्त दिहाड़ी मजदूरों के वर्ग का उदय हुआ।

10.6 वैश्वीकरण, उदारीकरण तथा ग्रामीण अर्थ–व्यवस्था

सम्पूर्ण विश्व को एक अर्थ–व्यवस्था के अन्तर्गत लाकर किसी भी एक भाग में बनने वाले उत्पाद को पूरे विश्व में बिकने की सुविधा उपलब्ध कराना वैश्वीकरण है। उदारीकरण व्यापार को नियंत्रित करने वाले नियमों और वित्तीय नियमनों को हटा देने की प्रक्रिया है। इन उपायों को आर्थिक सुधार भी कहा जाता है। इन दोनों ही प्रक्रियाओं का ग्रामीण समाज और किसानों पर सीधा प्रभाव पड़ा है। भारतीय कृषि का संबंध अन्तर्राष्ट्रीय बाजार से होता है। विश्व व्यापार संगठन (डस्लू, टी0ओ0) की नीति के तहत अधिक मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार हेतु भारतीय बाजार को खोला गया, इसका प्रभाव कृषि व्यवस्था पर पड़ा है। उदाहरणार्थ, पंजाब और कर्नाटक जैसे क्षेत्रों में किसानों ने बहुराष्ट्रीय कंपनियों (जैसे–पेप्सी, कोक) से कुछ निश्चित फसलें (जैसे– टमाटर और आलू) उगाने की संविदा दी गई, जिन्हें ये कंपनियाँ उनसे प्रसंस्करण अथवा निर्यात हेतु खरीद लेती हैं। ऐसी संविदा खेती के अनेक परिणाम सामने आये हैं। 'संविदा खेती' से जहाँ किसानों को वित्तीय सुरक्षा मिली है वहीं यह किसानों के लिए अधिक असुरक्षित भी बन जाती है, क्योंकि वे अपने जीवन व्यापार के लिए इन कंपनियों पर निर्भर हो जाते हैं। 'संविदा खेती' का समाजशास्त्रीय महत्व यह है कि यह बहुत से लोगों को उत्पादन प्रक्रिया से पृथक कर देती है, तथा उनके

अपने देशीय कृषि ज्ञान को निरर्थक बना देती है। इसके अतिरिक्त 'संविदा खेती' मूलरूप से अभिजात मदों का उत्पादन करती है तथा इसमें खाद तथा कीटनाशक का उच्च मात्रा में प्रयोग होता हैं, इसलिए यह बहुधा पर्यावरणीय दृष्टि से सुरक्षित नहीं होती।

वैश्वीकरण का एक महत्वपूर्ण प्रभाव बहुराष्ट्रीय कंपनियों का कृषि का क्षेत्र में कृषि मदों जैसे बीज, कीटनाशक तथा खार के विक्रेता के रूप में प्रवेश है। इससे किसानों को महँगी खाद और कीटनाशकों पर निर्भर होना पड़ा, जिसके प्रभावस्वरूप ग्रामीण ऋणग्रस्तता एवं पर्यावरण क्षय में वृद्धि हुई है। ऋणग्रस्तता के कारण किसान आत्महत्या की प्रघटना में वृद्धि हुई। इस प्रघटना की व्याख्या समाजशास्त्रियों ने कृषि तथा कृषक समाज में होने वाले संरचनात्मक तथा सामाजिक परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में करने का प्रयास किया है। ऐसी आत्महत्याएँ, "मैट्रिक्सँ घटनाएँ, मानी जाती है (अर्थात कारकों की एक श्रृंखला मिलकर किसी घटना को जन्म दें)। यह देखा जाता है कि आत्महत्या करने वाले बहुत से किसान 'सीमांत किसान' होते हैं, जो कृषि के क्षेत्र में वैश्वीकरण के जोखिम को उठा पाने में अक्षम होते हैं। ए0आर0 वासवी (1999) का मानना है कि ग्रामीण क्षेत्रों की परिवर्तित होने वाली संस्कृति जिसमें विवाह, दहेज, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य नयी गतिविधियाँ जिसमें अधिक धन की आवश्यकता पड़ती है, के कारण आत्महत्या जैसी घटनाएँ बढ़ जाती हैं।

इस प्रकार ग्रामीण अर्थव्यवस्था, उदारीकरण और वैश्वीकरण की शक्तियों के प्रभाव से संक्रमण के दौर में है। पुरातन संस्थागत एवं संरचनात्मक कारक, कृषि आधुनिकीकरण में जहाँ एक ओर सहयोगी है, तो दूसरी ओर चुनौती भी प्रस्तुत करती हैं।

10.7 सारांश

इस इकाई में ग्रामीण अर्थव्यवस्था का विश्लेषण ऐतिहासिक दृष्टिकोण से किया गया है। ग्रामीण अर्थव्यवस्था के तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए परंपरागत, मध्यकाल एवं औपनिवेशिक काल में कृषि एवं आधारित उद्योगों में होने वाले परिवर्तनों की चर्चा की गयी हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद आर्थिक संरचना के बदलाव में महत्वपूर्ण भूमि सुधार, हरित क्रांति कार्यक्रम तथा वैश्वीकरण की प्रक्रिया का भी विश्लेषण किया गया है।

10.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

- थॉर्नर, डेनियल, 1991, एग्रीरियन स्ट्रक्चर, दीपांकर गुप्ता (संघ), सोशल स्ट्राटीफिकेशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।
- वासवी, ए0आर0, 1999, 'एग्रीरियन डिस्ट्रेस इन बिहार : स्टेट, मार्केट एंड सुसाइड्स', इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली 34 : 2263–68।
- ब्रेमन, जान आर सुदीप्तो, मुंडेल (सं.), 1991, रूरल ट्रांसफॉरमेंशन इन एशिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिट, प्रेस, दिल्ली।
- देसाई, ए0आर0, 1669, रूरल सोशियोलाजी इन इण्डिया (सं0), पापुलर प्रकाशन, बाम्बे।

10.9 सम्बन्धित प्रश्न

(अ) लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) ग्रामीण अर्थ–व्यवस्था का क्या तात्पर्य है?

(2) जजमानी व्यवस्था क्या है?

(3) हरित क्रान्ति के प्रभावों को स्पष्ट कीजिए।

(4) ग्रामीण अर्थ–व्यवस्था पर वैश्वीकरण के प्रभावां का वर्णन कीजिए।

(ब) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) भारत में परम्परागत ग्रामीण अर्थ–व्यवस्था के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।

(2) औपनिवेशिक ग्रामीण अर्थ–व्यवस्था का वर्णन कीजिए।

(3) स्वतंत्रता के बाद भारत में ग्रामीण अर्थ–व्यवस्था के क्षेत्र में किये गये सुधारों को स्पष्ट कीजिए।

(स) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. भारत में रैयतवाड़ी व्यवस्था की स्थापना हुई–

   (अ) 1792

   (ब) 1782

   (स) 1882

   (द) 1892

2. भारत में महालवारी व्यवस्था लागू हुई–

   (अ) 1822

   (ब) 1833

   (स) 1844

   (द) 1855

3. ग्रामीण भारत में जजमानी प्रथा का सर्वप्रथम उल्लेख कौन किया है?

   (अ) आस्कर लेविस

(ब) एम0एन0 श्रीनिवास

   (स) विलियम वाइजर

(द) एस0सी0 दूबे

4. 'रूरल सोशियोलाजी इन इण्डिया' के लेखक कौन हैं?

(अ) एम0एन0 श्रीनिवास

(ब) मिल्टन सिंगर

(स) एम0एस0 गोरे

(द) ए0आर0 देसाई

5. किसी भी एक भाग में बनने वाले उत्पाद को पूरे विश्व में बिकने की सुविधा उपलब्ध कराना है–

(अ) वैश्वीकरण

(ब) उदारीकरण

(स) आधुनिकीकरण

(द) नगरीकरण

10.10 प्रश्नोत्तर

1. (अ), 2. (ब), 3. (स), 4. (द), 5. (अ)

इकाई – 11
शहरी अर्थ–व्यवस्था

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्‌देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 शहरी अर्थव्यवस्था की विशेषताएँ

11.3 शहरी तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था में संबंध

11.4 शहरी अर्थव्यव्यस्था में वर्ग

11.5 शहरी अर्थव्यवस्था में जाति तथा व्यवसाय

11.6 सारांश

11.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

11.8 सम्बन्धित प्रश्न

(अ) लघु उत्तरीय प्रश्न

(ब) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(स) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

11.9 प्रश्नोत्तर

11.0 उद्‌देश्य

इन इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप–

- शहरी अर्थव्यवस्था की विशेषताओं की व्याख्या कर सकेंगे।
- शहरी तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था में अन्तरों को जान सकेंगे।
- शहरी अर्थव्यवस्था में विभिन्न वर्गों की स्थिति को समझ सकेंगे।
- जाति तथा उनके परम्परागत व्यवसाय में परिवर्तनों को ज्ञात कर सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

आधुनिक युग में नगरीकरण में वृद्धि होने के फलस्वरूप शहर और गांव का अन्तर यद्यपि कम होता जा रहा है, लेकिन इसके पश्चात् भी शहरी तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था का स्वरूप एक–दूसरे से अत्यधिक भिन्नता लिए हुए है। शहरी अर्थव्यवस्था की इस इकाई में सर्वप्रथम शहरी अर्थव्यवस्था की विशेषताओं की चर्चा करते हुए ग्रामीण अर्थव्यवस्था से उसके अंतर के स्पष्ट किया गया है। किस प्रकार ग्रामीण

अर्थव्यवस्था, शहरी अर्थव्यवस्था को प्रभावित करती है, इसे भी जानने का प्रयास किया गया है। साथ ही शहरी अर्थव्यवस्था में वर्ग का स्वरूप तथा व्यवसाय के बदलते प्रतिमानों को देखने का प्रयास किया गया है।

11.2 शहरी अर्थव्यवस्था की विशेषताएँ

साधारणतया शहर का तात्पर्य एक ऐसे विस्तृत तथा औपचारिक समुदाय से है जिसका निर्धारण एक विशेष क्षेत्र में रहने वाले व्यक्तियों के जीवन–स्तर तथा उनकी नगरीय मनोवृत्ति के आधार पर होता है। विलकाक्स तथा डेविस जैसे विद्वानों ने जनसंख्या के आधार पर शहरों की प्रकृति को स्पष्ट किया है। लेकिन केवल जनसंख्या को ही शहर के निर्धारण का महत्वपूर्ण आधार नहीं कहा जा सकता। गम्फोर्ड के अनुसार ''शहर स्पष्ट अर्थों में एक भौगोलिक ढ़ांचा है। एक आर्थिक संगठन एवं एक संस्थात्मक प्रक्रिया तथा सामाजिक प्रक्रियाओं का मंच है और सामूहिक एकता का एक सौंदर्यात्मक प्रतीक है।'' बर्गेल ने शहर को परिभाषित करते हुए लिखा है ''कोई भी ऐसी बसावट जहाँ अधिकांश निवासी कृषि के अतिरिक्त अन्य गतिविधियों में लगे होते है शहर कहलता है। ''लुई विर्थ ने शहरी जीवन को एक विशेष जीवन विधि (A Way of life) मानते हुए उसके तत्वों पर जोर दिया है। ये हैं– सघनता, व्यक्तिवादिता, बड़ा आकार एवं विषमता। उपर्युक्त परिभाषाओं से शहरी अर्थव्यवस्था के निम्नलिखित मूलभूत तत्वों की जानकारी मिलती है–

I. शहर में लोगों का मुख्य व्यवसाय गैर–कृषि होता है। यद्यपि कुछ कृषि आधारित उद्योग एवं व्यापार की क्रिया हो सकती है।

II. इस क्षेत्र में बाजार तथा व्यापारी वर्ग की विद्यमानता होती है।

III. शहर में अन्य धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, प्रौद्योगिक, जटिल प्रशासनिक संरचनाएँ देखने को मिलती हैं, जो कि व्यापार और वाणिज्य ढ़ाँचे की पूरक है।

IV. शहरी अर्थव्यवस्था का आधार उच्चशिक्षा, आधुनिकीकरण, मशीनीकरण एवं उद्यमिता है।

V. इसमें प्रदत्त प्रस्थिति की बजाय अर्जित प्रस्थिति (शिक्षा, उद्यमिता, कौशल) को प्रमुखता दिया जाता हैं।

VI. शहरी अर्थव्यवस्था में वर्ग संबंध महत्वपूर्ण रहता है। जाति, धर्म को महत्व नहीं दिया जाता। आर्थिक आधार पर सम्पूर्ण जनसंख्या एक–दूसरे से भिन्न अनेक आर्थिक वर्गों में विभाजित रहती है। कभी–कभी विभिन्न वर्गों के बीच निहित अथवा प्रकट संघर्ष भी देखने को मिलता है।

11.3 शहरी तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था में संबंध

ए0आर0 देसाई, सोरोकिन तथा जिमरमेन ने शहरी और ग्रामीण समाज में अनेक भिन्नताओं का उल्लेख किया है। परन्तु दोनों की आर्थिक संरचना तथा आधारों में भिन्नता के बावजूद ये पारस्परिक रूप से संबंधित हैं। शहरी जनसंख्या का अधिकांश भाग, ग्रामीणों के शहरी प्रवास से बनता है। ये प्रवासित लोग, शहरी अर्थव्यवस्था के लिए मानव श्रम उपलब्ध कराते है तथा उपभोक्ता के रूप में बाजार प्रणाली को मजबूत कराते हैं। शहरी समाज की सामाजिक–सांस्कृतिक रिवाज, मुख्यतः उन लोगों पर निर्भर करती है, जो गांवों से आने के साथ स्थानीय लोक–व्यवहार एवं संस्कृति को भी अपने साथ ले आते हैं। इससे

स्थानीय परंपराओं को वृहद् आधार प्राप्त होता है, साथ ही शहरी अर्थव्यवस्था को भी बल मिलता है। इसी तरह शहरी समाज की तार्किकता, उद्यमशीलता, तथा विज्ञान–प्रौद्योगिकी के अभिनव ज्ञान से, ग्रामीण अर्थव्यवस्था को लाभ पहुँचता है जिससे कृषि के आधुनिकीकरण तथा व्यापारीकरण को बढ़ावा मिलता हैं।

उपर्युक्त संबंधों के बावजूद दोनां आर्थिक संरचनाओं में कुछ महत्वपूर्ण अन्तर है, जो निम्नलिखित है–

ग्रामीण अर्थव्यवस्था	**शहरी अर्थव्यवस्था**
(1) ग्रामीण अर्थव्यवस्था का आधार कृषि है। साथ ही लघुउद्यमी, दस्तकार, एवं छोटे कृषि व्यापारी अस्तित्व रखते हैं।	(1) इसमें अधिकांश जनसंख्या गैर– कृषि कार्यों में संलग्न रहती हैं। कुछ कृषि आधारित उद्योगों का भी अस्तित्व होता है।
(2) ग्रामीण अर्थव्यवस्था का जातीय संरचना के साथ संबंध होता है। यह जजमानी व्यवस्था से निकट रूप से जुड़ा होता है।	(2) यह वर्गीय संरचना से प्रभावित है। यद्यपि कुछ मात्रा में जातीय संबंध दिखायी पड़ता है।
(3) ग्रामीण अर्थ संरचना में प्रदत्त गुणों का अधिक महत्व होता है।	(3) नगरीय समाज में अर्जित गुण (शिक्षा, कौशल एवं ज्ञान) का अधिक बोलबाला रहता है।
(4) ग्रामीण, अर्थव्यवस्था पर स्थानीय परंपराओं एवं सांस्कृतिक तत्वों का अधिक प्रभाव होने के कारण आधुनिकीकरण की गति मंद होती है।	(4) नगरीय अर्थव्यवस्था में आधुनिकीकरण के प्रभावों से परिवर्तन की गति तीव्र रहती है।
(5) कृषि पर आवश्यकता से अधिक निर्भरता के कारण मौसमी बेरोजगारी उत्पन्न होती है।	(5) शहरी अर्थव्यवस्था में बाजार प्रणाली के उतार–चढ़ाव से चक्रीय बेरोजगारी एवं शिक्षित बेरोजगारी को बढ़ावा मिलता हैं।
(6) ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर सामंतीय संरचना (जाति व्यवस्था), संयुक्त परिवार, एवं जजमानी व्यवस्था तथा जाति पंचायतों जैसी राजनीतिक व्यवस्था का प्रभाव रहता है।	(6) शहरी अर्थव्यवस्था पर लोकतांत्रिक व्यवस्था (सरकार, शिक्षा व्यवस्था, श्रम– संघ आदि) का प्रभाव होता है।

11.4 शहरी अर्थव्यवस्था में वर्ग

आगवर्न और निमकाक के अनुसार, ''किसी भी समाज में एक समान परिस्थिति वाले व्यक्तियों के सम्मिलित रूप को सामाजिक वर्ग कहते हैं।'' नगरों में वर्ग का आधार जहां आर्थिक होता है वहीं विभिन्न वर्गों के बीच ऊँच–नीच की भावना, वर्ग–चेतना, धर्म निरपेक्षता और स्थितियों का संस्तरण रहता है।

शहरी अर्थव्यवस्था में मुख्यतः निम्नलिखित तीन वर्ग देखे जा सकते हैं–

(I) पूंजीपति वर्ग– पूंजीवादियों को मार्क्स हैव समूह (Have group) कहता हैं। इसका औद्योगिक, व्यापारिक और वित्तीय उपक्रमों पर स्वामित्व और नियंत्रण रहता है। इस वर्ग का राजनीतिक एवं आर्थिक संरचना में महत्वपूर्ण स्थान रहता हैं। ये वर्ग, पूँजी, श्रम एवं उद्यम, के संगठन से उत्पादन को बढ़ाते हैं तथा लाभ प्राप्त करते हैं। मार्क्स ने इन्हें शोषक माना है क्योंकि वह उत्पादन का अतिरिक्त मूल्य, जिस पर श्रमिक वर्ग का अधिकार होता है, को हड़प कर जाता है। उत्पादन और सेवाओं के क्षेत्र में आंतरिक प्रतिस्पर्द्धा एवं संघर्ष के बावजूद ये वर्ग, हित समूह एवं व्यापार संघों के रूप में संगठित होते है, उदाहरणार्थ– CIT, FICCI, ASSOCHAM आदि ऐसे ही उद्यमी संगठन हैं।

(II) शहरी मध्य वर्ग– स्वतंत्रता के बाद मध्यम वर्ग का तेजी से उद्भव हुआ है। मध्यम वर्ग का तात्पर्य उन अर्जित गुणों वाले वर्ग से है जिसका स्थान पूँजी एवं श्रम के मध्य होता है। इस वर्ग के सदस्य बहुत से व्यवसायों जैसे शिक्षण, पत्रकारिता, कानून और प्रशासन आदि में कार्यरत हैं। ये उद्योग, व्यापार और वाणिज्य में भी प्रबंधकीय और देख–रेख के पदों पर काम करते हैं। इस वर्ग के सर्वश्रेष्ठगण जीवन की सभी सुख–सुविधाओं को प्राप्त करते हैं। भारत के उपभोक्तावाद को बढ़ावा देने में यह वर्ग महत्वपूर्ण है।

(III) शहरी श्रमिक वर्ग– यह वर्ग सबसे नीचले स्तर पर विद्यमान है। इसे मार्क्स ने सर्वहारा कहा है। इसमें वेतन भोगी मजदूर तथा स्वयं रोजगार श्रमिक, दोनों आते हैं। यह वर्ग गरीब, शक्तिहीन और बड़े पैमाने पर असंगठित होता है। यह शोषित वर्ग है। इसका शोषण संगठित क्षेत्र की तुलना में असंगठित क्षेत्र में अधिक होता है। यद्यपि संगठित क्षेत्र में कुछ संघ होते हैं, जो मजदूरों की तरफ से सौदेबाजी करते हैं, लेकिन लाभ कम ही प्राप्त होता हैं। वहीं असंगठित क्षेत्र इस सौदेबाजी से वंचित होता है। इनमें महिलाओं एवं बच्चों की दशा और भी दयनीय होती है, क्योंकि अपेक्षाकृत निम्न वेंतन पर अधिक काम करना पड़ता है।

11.5 शहरी अर्थव्यवस्था में जाति तथा व्यवसाय

शहरी अर्थव्यवस्था में जाति और व्यवसाय के बीच एक जटिल संबंध है। जाति, एक सामाजिक व्यवस्था, व्यवसाय को प्रभावित करती है, जिससे लोगों को कुछ अवसरों तक पहुँच मिलती है और कुछ से वंचित रखा जाता है। कई लोग शहरों में काम करने के लिए पलायन करते हैं, लेकिन जातीय पूर्वाग्रह और भेदभाव उन्हें उन अवसरों से वंचित कर सकते हैं जो उनकी योग्यता के अनुरूप हैं।

पारंपरिक व्यवसायरू कुछ जातियों को कुछ व्यवसायों से जोड़ा गया है। उदाहरण के लिए, कुछ जातियों को पारंपरिक रूप से कृषि से जोड़ा जाता है, जबकि अन्य को व्यापार या शिल्प से। शहरीकरण के साथ, ये पारंपरिक व्यवसाय बदल गए हैं, लेकिन जाति अभी भी कुछ व्यवसायों में पूर्वाग्रह का स्रोत बनी हुई है.।

भेदभावरू जाति के आधार पर भेदभाव श्रम बाजार में व्याप्त है। कुछ जातियों को नौकरियों के लिए आवेदन करने से वंचित किया जा सकता है या उच्च स्तर की नौकरियों में पदोन्नति नहीं मिल सकती है।

कुछ जातियों के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार भी होता है, जिससे उन्हें कम वेतन मिलता है या उनके साथ दुर्व्यवहार होता है ।

सामाजिक नेटवर्क जाति सामाजिक नेटवर्क को प्रभावित करती है, जो व्यवसाय और अवसरों तक पहुँच को प्रभावित कर सकता है। कुछ जातियों को मजबूत सामाजिक नेटवर्क प्राप्त होते हैं जो उन्हें व्यवसाय करने और अवसरों तक पहुँचने में मदद करते हैं, जबकि अन्य को ऐसा नेटवर्क प्राप्त नहीं होता है ।

आर्थिक असमानता जाति आर्थिक असमानता में भी योगदान करती है। कुछ जातियों के पास धन और संपत्ति होती है, जो उन्हें व्यवसाय करने और अवसरों तक पहुँचने में मदद करती है, जबकि अन्य को ऐसा नहीं होता है। शहरीकरण का प्रभाव शहरीकरण से जाति व्यवस्था बदल रही है। शहरों में जाति के सख्त नियमों का पालन करना संभव नहीं है, और कुछ ऐसे स्थान हैं जहाँ जाति के प्रतिबन्धों को लागू करना संभव नहीं है ।

ग्रामीण समाज में जाति का व्यवसाय के साथ घनिष्ठ संबंध हैं, लेकिन शहरी अर्थव्यवस्था के संदर्भ में इसमें लचीलापन है। विक्टर 'डिसूजा' ने अपने अध्ययन में देखा कि विभिन्न जाति श्रेणियों की व्यावसायिक संरचना भिन्न थी और यह हिंदू या सिक्ख जातियों में पाई जाने वाली व्यावसायिक श्रेणीबद्धता के अनुकूल नहीं थी। हेरोल्ड गोल्ड ने लखनऊ के रिक्शा चालकों के अध्ययन में देखा कि हिन्दू–मुसलमान, हरिजन, एवं ब्राह्मण सभी जाति एवं धर्म के लोग इस व्यवसाय से जुड़े थे। बम्बई के औद्योगिक श्रमिकों के अध्ययन में मोरिस ने पाया कि श्रम बल में सभी उच्च और निम्न जातियों का सम्मिलन था। कुछ अध्ययन अनुसूचित जाति के सामाजिक और व्यावसायिक गतिशीलता पर किए गए। सुनंदा पटवर्धन ने पूना के हरिजनों के अध्ययन में देखा कि जाति एवं परंपरागत व्यवसाय के बीच संबंध परिवर्तनशील हैं। आगरा के जाटव पर लिंच ने यही तथ्य प्राप्त किया।

11.6 सारांश

इस इकाई में शहरी अर्थव्यवस्था तथा उसकी विशेषताओं को स्पष्ट किया गया है। साथ ही ग्रामीण अर्थव्यवस्था से भेद तथा संबंध को दर्शाया गया है। आधुनिक युग में नगरीकरण में वृद्धि के कारण शहर और गांव का अन्तर यद्यपि कम होता जा रहा है तथापि ग्रामीण और शहरी अर्थव्यवस्था का आन्तरिक स्वरूप एक–दूसरे से भिन्नता लिए हुए है। ग्रामीण अर्थव्यवस्था का आधार जहां कृषि है और उसमें प्रदत्त गुणों का महत्व होता है वहीं शहरों की अधिकांश जनसंख्या गैर कृषि कार्यों में संलग्न रहती है और उसमें अर्जित गुणों शिक्षा, कौशल एवं ज्ञान का अधिक बोलवाला रहता है। विभिन्न व्यवसायों, जीवन–स्तर, उपभोग की प्रकृति तथा वर्ग संरचना के दृष्टिकोण से भी स्पष्ट भिन्नता देखी जा सकती है। किसी भी जाति, वर्ग और सम्प्रदाय का व्यक्ति हजारों व्यवसायों में से किसी भी व्यवसाय के द्वारा शहरों में आजीविका उपार्जित कर सकता है।

11.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

- देसाई, ए.आर. 1987, 'सोशल वैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनेलिज्म', पापुलर प्रकाशन : बम्बई।
- उप्रेती, हरिश्चन्द्र, रामेश्वर लालसैनी, 2003 ''नगरीय समाजशास्त्र'' राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।
- सुंदरम के. 2001, इंप्लाइमेंट एंड पॉवर्टी इन 1990, फर्दर रिजल्टस फ्राम M.S.S. 55वें राउंड इंप्लाइमेंट– अन इंप्लामेंट सर्वे, 1999–2000, इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, अगस्त 11, पी.पी. 3039–3049।

11.8 सम्बन्धित प्रश्न

(अ) लघु उत्तरीय प्रश्न

1. शहरी अर्थव्यवस्था क्या है?
2. शहरी अर्थव्यवस्था की विशेषताएं बताइये।
3. आधुनिक युग में नगरीय वर्ग व्यवस्था की विवेचना कीजिए।

(अ) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. शहरी तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था में प्रमुख अन्तरों को स्पष्ट कीजिए।
2. शहरी अर्थव्यवस्था में जाति, वर्ग और व्यसाय के स्वरूपों का वर्णन कीजिए।
3. शहरी अर्थव्यवस्था ग्रामीण अर्थव्यवस्था से किस तरह सम्बद्ध और अलग है? स्पष्ट कीजिए।

(स) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. इनमें से कौन–सी विशेषता नगरीय समाज की नहीं है?

   (अ) सामाजिक एकता (ब) गुमनामता

   (स) धर्म निरपेक्षीकरण (द) कृत्रिमता

2. शहरी जीवन को एक विशेष जीवन विधि कौन माना है?

   (अ) वर्जेल (ब) लुई विर्थ

   (स) ममफोर्ड (द) एण्डरसन

3. नगरीय समाज में वर्ग में अनेक धर्म, जाति एवं सम्प्रदाय के व्यक्ति साथ–साथ कार्य करते हैं। यह किस अवधारणा का द्योतक है?

   (अ) धर्म निरपेक्षता (ब) परिवर्तनशील वर्ग

   (स) परिवारात्मकता का अभाव (द) जातीय महत्वहीनता

4. नगरीय समाज में वर्ग व्यवस्था का मुख्य आधार क्या है?

(अ) सामाजिक (ब) राजनीतिक

(स) सांस्कृतिक (द) आर्थिक

5. नगरीय समाज की व्यवसाय संरचना का प्रमुख आधार क्या है?

(अ) परम्परा (ब) पूंजी या धन

(स) प्रथा (द) जाति

11.9 प्रश्नोत्तर

1. (अ), 2. (ब), 3. (अ), 4. (द), 5. (ब)

इकाई – 12

गरीबी : ग्रामीण और शहरी

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 गरीबी की अवधारणा

12.3 स्वतंत्रता पूर्व भारत में गरीबी

12.4 स्वातंत्रोत्तर भारत में गरीबी

12.5 ग्रामीण और शहरी गरीबी में संबंध

12.6 गरीबी के कारण

12.7 गरीबी उन्मूलन के उपाय

12.8 सारांश

12.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

12.10 सम्बन्धित प्रश्न

(अ) लघु उत्तरीय प्रश्न

(ब) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(स) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

12.11 प्रश्नोत्तर

12.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- गरीबी की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- भारत में गरीबी रेखा के निर्धारकों को जान सकेंगे।
- ग्रामीण एवं शहरी गरीबी का ऐतिहासिक विश्लेषण कर सकेंगे।
- गरीबी के कारणों का विश्लेषण कर सकेंगे।
- गरीबी निवारण के उपायों को ज्ञात कर सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

इस इकाई में, भारत में गरीबी की अवधारणा को जानने का प्रयास किया गया है। साथ ही भारत में गरीबीरेखा के निर्धारकों का उल्लेख किया गया है। स्वतंत्रतापूर्व गरीबी की स्थिति तथा स्वतंत्रता पश्चात् गरीबी की स्थिति का विश्लेषण ग्रामीण एवं शहरी दोनों के सन्दर्भ में किया गया है। गरीबी के सामाजिक– आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, प्रशासनिक कारकों एवं इसके उन्मूलन हेतु अपनाये गये उपागमों तथा विभिन्न संचालित कार्यक्रमों का भी विश्लेषण इस अध्याय में किया गया है।

12.2 गरीबी का अवधारणा

गरीबी वह स्थिति है जिसमें व्यक्ति जीवन की कुछ विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ रहता है। यह मूलतः वंचमा (deprivation) से सम्बन्धित है। एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह गरीब है क्योंकि वह कुछ निर्दिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पा रहा है, यदि वह जीवन निर्वाह की आवश्यकताओं–भोजन तथा कपड़ा की पूर्ति नहीं कर पा रहा है तो वह बहुत गरीब है। गरीबी की धारणा को हम दो तरह से देख सकते हैं– (क) आधारभूत आवश्यकता दृष्टिकोण जैसा कि ऊपर वर्णित है तथा (ख) बहुआयामी दृष्टिकोण। बहुआयामी दृष्टिकोण में गरीबी निर्धारित करने वाले एक से अधिक चरों को सम्मिलित करते है। इसके दो उदाहरण हमें मिलते हैं– तेन्दुलकर कमेटी दृष्टिकोण तथा 2010 में प्रतिपादित बहुआयामीय गरीबी निर्देशांक (MPI)।

गरीबी के दो स्वरूप हैं– सापेक्ष गरीबी (Relative Poverty) तथा निरपेक्ष गरीबी (Absolute Poverty)। सापेक्ष गरीबी यह स्पष्ट करती है कि विभिन्न आय वर्गों के बीच कितनी विषमता है। इसके अन्तर्गत जनसंख्या के विभिन्न आय वर्ग, चतुर्थांश या दसांश के संबंध में आय सम्बन्धी अनुमान लिए जाते हैं तथा जनसंख्या के निचले 5% से 10% आय समूह की तुलना ऊपरी 5 से 10% आय समूह के साथ की जाती है तथा इससे प्राप्त परिणाम सापेक्षिक गरीबी की स्थिति प्रदर्शित करते हैं। सापेक्षिक गरीबी से इस बात की जानकारी नहीं हो पाती है कि गरीब लोगों की मात्रा क्या है? इस कमी को दूर करने के लिए हम निरपेक्ष गरीबी की बात करते हैं। इसका प्रयोग सर्वप्रथम आर वायड (1945) ने किया। इसके अन्तर्गत हम एक निश्चित मापदण्ड के आधार पर तय करते हैं कि कितने लोग इस मापदण्ड के नीचे हैं जिन्हें गरीब कहा जाता है। उदाहरण के लिए यदि हम यह मान लें कि जिन लोगों की आय 2400 कैलोरी प्रतिदिन भोजन देने वाली आय से कम होगी उसे हम गरीब कहेंगे, तो इस मापक को हम गरीबी रेखा कहेंगे। परंतु इस गरीबी रेखा मापक में त्रुटि यह है कि इसमें गरीबी रेखा के नीचे के सभी व्यक्तियों को एक श्रेणी में रखा जाता है, जबकि अवरोही क्रम में देखा जाय तो प्रत्येक की स्थिति भिन्न होती है। इस कमी को दूर करने के लिए नोबेल विजेता प्रो0 अमर्त्य सेन ने 'सेन निर्देशांक' विकसित किया। सेन के अनुसार, ''गरीबी की सही तस्वीर ज्ञात करने के लिए हमें गरीबी रेखा के नीचे के लोगों का सिर नहीं गिनना चाहिए बल्कि हमें प्रत्येक व्यक्ति के संबंध में गरीबी रेखा से आय की गिरावट को देखना चाहिए।''

भारत में गरीबी रेखा का निर्धारण :–

गरीबी रेखा को परिभाषित करने में हम सामान्यतया दो बातें देखते हैं–

(क) किसी व्यक्ति के लिए पोषाहार के न्यूनतम स्तर का निर्धारण तथा

(ख) न्यूनतम पोषाहार की लागत का निर्धारण जो वास्तव में किया जाने वाला आवश्यक न्यूनतम उपभोग व्यय होगा जिससे कम व्यय पर व्यक्ति गरीब कहलाता हैं

भारत में गरीबी की माप/रेखा के निर्धारण के संबंध में सामान्यतया योजना आयोग के दृष्टिकोण को स्वीकार किया जाता है। गरीबी रेखा के निर्धारण के सम्बन्ध में अधिक प्रभावी तथा अधिकारिक प्रयास छठीं योजना के दौरान 1977 में हुआ जबकि योजना आयोग ने 'न्यूनतम आवश्यकता तथा प्रभावपूर्ण मांग के पूर्वानुमान के लिए एक कार्यदल गठित किया। कार्यदल ने गरीबी निर्देशांक तैयार किया। इस कार्यदल ने 1958 के भारतीय चिकित्सा शोध परिषद के न्यूनतम पोषाहार आवश्यकता रिपोर्ट के आधार पर ग्रामीण क्षेत्र के लिए प्रतिव्यक्ति प्रतिदिन 2400 कैलोरी (20 रुपया प्रतिमाह) तथा शहरी क्षेत्र के लिए 2100 कैलोरी की (25 रुपया प्रतिमाह) संस्तुति की। गरीबी की माप की इस प्रणाली को भोजन ऊर्जा प्रणाली (Food energy method) भी कहते हैं। इस आधार पर 1973–74 कीमत पर ग्रामीण क्षेत्र के लिए कटान बिन्दू 49 रुपया तथा शहरी क्षेत्र के लिए 57 रुपया निर्धारित किया गया है।

बहुआयामी दृष्टिकोण पर आधारित सुरेश तेन्दुलकर कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार गरीबी रेखा का निर्धारण उपयोग में लाये जा रहे खाद्यान्नों के अलावा छः बुनियादी आवश्यकताओं–शिक्षा, स्वास्थ्य, बुनियादी संरचना, स्वच्छ वातावरण तथा महिलाओं की काम तथा लाभ तक पहुँच (access) पर आधारित है। समिति ने ग्रामीण क्षेत्र में 2004– 05 मूल्य पर 446.68 रुपया प्रति व्यक्ति प्रतिमाह तथा शहरी क्षेत्र के लिए इसे 578.80 रुपया प्रतिमाह प्रति व्यक्ति उपभोग रखा। इस आधार पर ग्रामीण क्षेत्र में 2004–05 में 41.8% तथा शहरी क्षेत्र में 25.7% जनसंख्या गरीबी रेखा से नीचे रहती है। सम्पूर्ण भारत में यह 37.2% हैं।

12.3 स्वतंत्रता पूर्व भारत में गरीबी

भारत में गरीबी कोई नवीन समस्या नहीं है। यह प्राचीन काल में भी विद्यमान थी। वैदिक काल में समाज मूलतः जनजातीय, अर्ध–खानावदोश और मुख्यतः समतावादी था। रामशरण शर्मा (1980) के अनुसार वह वर्ग–पूर्व समाज था, जिसमें सामाजिक–आर्थिक विकास का स्तर निम्न था। गरीबी एक आम समस्या थी। परन्तु उत्तरवैदिक काल में कृषि बस्तियाँ बसने और नगरों के विकास के साथ वर्ण आधारित संस्तरित समाज की रचना हुई, जो आज तक जारी हैं। इस प्रकार गरीबी सामान्य समस्या से समाज–निर्मित (Socially generated) स्थिति में बदल गई। प्राचीन भारत में राजा, दरबारी, ब्राह्मण तथा बड़े व्यापारी, क्षत्रिय आदि जिनका उत्पादन में निम्न योगदान होता था, धनी थे तथा विलासितापूर्ण जीवन जीते थे, वही किसान, श्रमिक, दास, कारीगर आदि की स्थिति निम्न थी तथा ये उच्च वर्ण के शोषण के शिकार थे। प्रसिद्ध कवि कल्हण ने अपनी पुस्तक ''राजतरंगिणी'' में आठवीं शताब्दी के प्रारंभ में पड़े अकाल एवं गरीबी का वर्णन इस प्रकार किया ''जहेलम में पसी की बूंद भी दिखाई नहीं देती थी, सारी नदी ऐसे शवों से भरी हुई थी जो लम्बे समय से पानी में डूबे रहे थे और फूल गए थे। राजा के मंत्री और दरबान अमीर हो गए थे, क्योंकि उन्होंने जमा किया किए गए चावलों को ऊँचे दामों पर बेचकर काफी धन बटोर लिया था।''

मध्यकाल में समाज द्वारा थोपी गई गरीबी, पूर्ववत हिन्दू और मुस्लिम, दोनों वर्गो द्वारा शासित रियासतों और साम्राज्यों में जारी रही। ब्रिटिश काल में इस शोषण और दमन की प्रक्रिया में विदेशी भी सम्मिलित हो गए तथा देश की विशेषकर आम लोगों की गरीबी बदतर हो गई। बड़े पैमाने पर भारतीय सम्पत्ति को देश के बाहर ले जाया गया। नई भू–राजस्व प्रणाली, कृषि का व्यापारीकरण एवं विदेशी उद्योगों

की स्थापना से अकृसानीकरण की प्रक्रिया तेज हुई, जिससे गरीबी में वृद्धि हुई। विलियम हंटर का कहना था– ''भारत में 4 करोड़ लोग भरपेट खाना खाए बगैर जीवन गुजारते थे।'' इससे तत्कालीन समाज में व्याप्त गरीबी की विकरालता का पता चलता है।

12.4 स्वतंत्रोत्तर भारत में गरीबी

स्वतंत्रता उपरांत गरीबी की समस्या का विश्लेषण दो क्षेत्रों ग्रामीण तथा शहरी के विभिन्न वर्गों, जातियों और समूहों के संदर्भ में किया जा सकता है–

12.4.1 ग्रामीण गरीबी

भारत में ग्रामीण क्षेत्रों में सर्वाधिक गरीब निवास करते हैं। ये गरीब सामान्यतः किसान, मजदूर, कारीगर तथा शिल्पकार हैं जो मुख्यतः अनुसूचित जाति, जनजाति तथा दूसरी पिछड़ी जातियों के हैं। ये वो तबका है जिसके पास सम्पत्ति के रूप में उनके पास बहुत कम या कुछ भी नही है।उनकी आमदनी और खर्च बहुत कम है। उनकी मजदूरी बहुत कम है। उनमें से अनेक लोग बेरोजगार हैं या छोटा–मोटा रोज़गार करते हैं, जिससे उनकी गरीबी की तकलीफें और बढ़ जाती हैं। उनमें साक्षरता की दर बहुत कम है। स्वास्थ्य देखभाल की जो सुविधाएं उपलब्ध हैं, उनका वे कोई खास लाभ नहीं उठा पाते।

12.4.2 शहरी गरीबी

शहरी गरीबी आमतौर पर असंगठित क्षेत्रों में देखी जा सकती है। थोड़े बहुत जो संगठित क्षेत्रों से जुड़े होते भी हैं, वे निम्न आय वाले रोजगार में संलग्न होते हैं। ये लोग अकुशल, अर्ध–कुशल और निम्न आय वाली नौकरी–पेशा में लगे हुए हैं। ये लोग कारखानों, व्यापार, वाणिज्य, परिवहन तथा भवन–निर्माण उद्योगों में आमतौर पर दिहाड़ी पर काम करते हैं। इनमें से अनेक लोग अपना काम–धंधा करने वाले भी हैं। रिक्शा–चालक, मोची, खोमचे वाले, चाय और बीड़ी–सिगरेट बेचने वाले तथा भिखारी भी इनमें शामिल हैं। भारत के शहरों तथा कस्बों में ऐसे गरीबों की भी बहुत बड़ी संख्या है जो गंदी बस्तियों में रहते हैं या पटरियों के किनारे जिन्दगी काटते हैं।

ग्रामीण एवं शहरी गरीबी की तुलनात्मक ऑकड़े राज्यवार निम्नवत है–

12.5 ग्रामीण और शहरी गरीबी में संबंध

ए0आर0 देसाई, दाण्डेकर एवं रथ का मानना है कि यदि गांवों में गरीबों की संख्या बढ़ती है तो वहां के लोग, शहरों के गरीबों में बदल जाते हैं। यह घटना ग्रामीण–शहरी प्रवास से जन्म लेती हैं। गांवों में रोजगार के निम्न अवसर तथा स्वास्थ्य एवं शिक्षा की बदहाल स्थिति उन्हें शहरों की ओर पलायन को विवश करती है, जो अन्ततः शहरी गरीबी में वृद्धि करती हैं। ग्रामीण गरीबों के शहरों में पलायन में सामाजिक एवं सांस्कृतिक पहलुओं की भी महत्वपूर्ण भूमिका हैं। गांवों से प्रवासित लोग शहरी जीवन की कठिन परिस्थितियों से अनुकूलन की सुविधा हेतु सामान्यतः अपने नातेदारों, जाति और क्षेत्र के लोगों पर निर्भर होते है। वें स्वतः ही उन गंदी बस्तियों में वास हेतु पहुँच जाते हैं जहाँ उनके रिश्तेदार, जाति–बिरादरी के लोग, मित्र पहले से रहते हैं। अतः कह सकते हैं कि गरीबी, गरीबी की वृद्धि में सहायक हैं।

12.6 गरीबी के कारण

भारत में गरीबी के कारणों को निम्न बिन्दुओं के तहत् स्पष्ट किया जा सकता है–

(क) कार्यक्रम क्रियान्वयन की कमियां

(I) गरीबी उन्मूलन संबंधित नीतियों एवं कार्यक्रमों के निर्माण में कमियों के कारण आम व्यक्ति की आवश्यकताओं पर कम और राजनैतिक हितों पर ज्यादा ध्यान दिया जाता हैं। श्यामाचरण दूबे मानते हैं कि कार्यक्रमों का निर्माण चूँकि ऊपरी मशीनरी द्वारा होता है, अतः निचले स्तर के अधिकारियों की भक्ति स्वयं से ऊपर के अधिकारियों के प्रति होती है, फलतः वे आम नागरिक से कट जाते हैं।

(II) विभिन्न व कार्यक्रमों के बीच सामंजस्य का अभाव होता है। इससे न केवल विभागीय स्तर पर बाधा उत्पन्न होती है बल्कि इसकी जटिलता से असमंजस की स्थिति पैदा होती हैं।

(III) कार्यक्रमों का प्रचार–प्रसार न होने से आम जन में जानकारी का अभाव होता है।

(IV) राजनैतिक तथा प्रशासनिक इच्छा शक्ति की कमी एक अन्य बाधा हैं।

(ख) सामाजिक–सांस्कृतिक कारक

(I) भारतीय समाज जातीय या वर्गगत रूप से विभाजित है। फलतः कार्यक्रमों का लाभ सदैव प्रभावशाली लोगों द्वारा हड़प लिया जाता है, जिससे लक्षित समूह वंचित रह जाता है।

(II) ग्रामीण जनसंख्या का एक बड़ा भाग आज भी अशिक्षित है। फलतः जागरूकता की कमी के कारण वह विकास का लाभ नहीं प्राप्त कर पाता।

(III) भारतीय समाज में व्याप्त दहेज, विवाह, एवं पारिवारिक संस्कारों को संपादित करने के लिए धन का अपव्यय होता है, जो गरीब को और गरीब बनाता है।

12.7 गरीबी उन्मूलन के उपाय

भारतीय संविधान और पंचवर्षीय योजनाओं ने सामाजिक न्याय को सरकार की विकास रण–नीतियों का प्राथमिक उद्देश्य माना हैं। पहली पंचवर्षीय योजना (1951–56) के अनुसार वर्तमान परिस्थितियों में आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन की अंतःप्रेरणा का उदय ही निर्धनता और आय, संपत्ति तथा अवसरों की असमानताओं से होता है। दूसरी योजना (1956–61) में भी कहा गया है– ''आर्थिक विकास के अधिकाधिक लाभ समाज के अपेक्षाकृत कम भाग्यशाली वर्गों तक पहुँचने चाहिए।''

निर्धनता निवारण के लिए सरकार ने त्रि–आयामी नीति अपनाई है। पहली, संवृद्धि आधारित रणनीति है। यह रणनीति इस आशा पर आधारित है कि आर्थिक संवृद्धि के प्रभाव समाज के निचले तबके तक पहुँचेगा (ट्रिकल डाउन थियोरी)। 1950 से 1960 के दशक के पूर्वार्द्ध में सारी योजनाओं का मुख्य उद्देश्य यही था। लेकिन संवृद्धि और कृषि तथा उद्योग क्षेत्रों में सर्वांगीण वृद्धि अधिक प्रभावशाली नहीं रही हैं। जनसंख्या वृद्धि के परिणामस्वरूप प्रति व्यक्ति आय में निम्न वृद्धि हुई, इन्हीं कारणों से धनी एवं निर्धन के बीच खाई बढ़ गई। अर्थशास्त्रियों के अनुसार आर्थिक संवृद्धि के लाभ निर्धनों तक नहीं पहुँच पाए।

फलतः नीति निर्धारकों ने दूसरी रणनीति अपनायी। इसके अन्तर्गत वर्धनशील परिसंपत्तियों और कार्य–सृजन के साधनों द्वारा निर्धनों की आय में वृद्धि करने पर बल दिया गया। ऐसा विशेष निर्धनता निवारण कार्यक्रमों के माध्यम से किया जा सकेगा। तीसरी पंचवर्षीय योजना (1961–66) से आरंभ यह नीति अभी तक बनी हुई हैं। इसी क्रम में 1970 में 'काम के बदले अनाज' एक महत्वपूर्ण कार्यक्रम रहा। दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002–07) तथा ग्यारहवीं योजना, इसी रोजगारसृजन पर केन्द्रित हैं। स्वरोजगार कार्यक्रम के उदाहरण है, ग्रामीण रोजगार सृजन कार्यक्रम (REGP) प्रधानमंत्री रोजगार योजना (PMRY), स्वर्ण जयंती शहरी रोजगार योजना (SJSRY), मनरेगा (2005) आदि।

निर्धनता निवारण की दिशा में तीसरा आयाम लोगों को न्यूनतम आधारभूत सुविधाएं उपलब्ध कराना है। ऐसा माना जाता है कि रोजगार के अवसरों में विस्तार के बाद भी निर्धन व्यक्ति अपने लिए सभी आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं को नहीं खरीद सकते। एक निश्चित सामाजिक न्यूनतम स्तर तक उनके उपभोग और निवेश को समर्थन देना निम्नलिखित रूपों में अनिवार्य रहेगा– खाद्यान्न, पेय–जल, शिक्षा, पोषण–स्वास्थ्य सेवाएँ, संचार और पूर्ति। इसी संदर्भ में निर्धनों हेतु सार्वजनिक वितरण व्यवस्था (PDS), एकीकृत बाल विकास योजना (ICDS), मीड–डे मील, प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना, भारत निर्माण कार्यक्रम, इंदिरा आवास योजना, और बाल्मीकि अंबेडकर आवास योजना आदि चलाये गये हैं।

12.8 सारांश

इस इकाई में गरीबी की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए भारत में गरीबी की रेखा का निर्धारण तथा इस आधार पर ग्रामीण एवं शहरी तथ्यों को प्रस्तुत किया गया है। भारत में गरीबी की समस्याको ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत कर वर्तमान समय में इसके स्वरूप की चर्चा की गयी हैं। ग्रामीण तथा शहरी गरीबी के विश्लेषण के साथ ही इनके संबंधों की विवेचना की गयी है। साथ ही गरीबी के कारणों को स्पष्ट करते हुए उसके निवारण के विभिन्न उपागमों एवं रणनीति की चर्चा की गयी है।

12.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

- दत्त, आर. सुन्दरम्, के.पी.एस. (2008), इंडियन इकोनॉमी, एस.चंद : नई दिल्ली।
- दांडेकर बी.एम. एंड नीलकांथ रथ, (1971), पावर्टी इन इंडिया, इंडियन स्कूल ऑफ पोलिटिकल अकॉदमी, पुणे।
- मेहता, आशा कपूर एवं शाह, अमिता (2004), क्रानिक पावर्टी इन इण्डिया : एन ओवरव्यू , क्रानिक पावर्टी रिसर्च सेन्टर, एच.पी.ए., नयी दिल्ली।
- ड्रेज जीन, अमर्त्य सेन एंड अख्तर हुसैन (ए.ड.) (1995), दी पोलिटिकल इकॉनामी ऑफ हंगर, कैलेंडस प्रेस, ऑक्सफोर्ड।

12.10 सम्बन्धित प्रश्न

(अ) लघु उत्तरीय प्रश्न

1. निर्धनता का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

2. भारत में गरीबी रेखा के निर्धारकों को स्पष्ट कीजिए।

3. ग्रामीण निर्धनता क्या है?

(ब) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. निर्धनता से आप क्या समझते हैं? इसका निर्धारण कैसे किया जा सकता है?

2. भारत में ग्रामीण एवं शहरी गरीबी के स्वरूप की विवेचना कीजिए।

3. भारत में गरीबी के कारणों की व्याख्या कीजिए तथा इसके उन्मूलन के प्रयासों की विवेचना कीजिए।

(स) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. भारत में गरीबी का प्रमुख कारण है–

   (अ) अनुपयुक्त प्रौद्योगिक विकास

   (ब) अपर्याप्त औद्योगीकरण

   (स) जननीतियों एवं कार्यक्रमों का अप्रभावी कार्यान्वयन

   (द) जनसंख्या वृद्धि की तीव्र दर

2. भारत में 'निर्धनता की रेखा' के विषय में पर्याप्त भ्रम है। हाल में इस भ्रम को और अधिक गम्भीर बना दिया गया–

   (अ) वित्त मंत्रालय के द्वारा (ब)राष्ट्रीय महिला आयोग द्वारा

   (स) योजना आयोग द्वारा (द)राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग द्वारा

3. 1999–2000 की अवधि में भारत में शहरी गरीबी का अनुपात क्या है?

   (अ) 32.4% (ब) 23.6% (स) 27.1% (द) 26.1%

4. ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी रेखा के निर्धारण हेतु कैलोरी सम्बन्धी अपेक्षा है–

   (अ) 2100 कैलोरी की

   (ब) 2200 कैलोरी की

   (स) 2300 कैलोरी की

   (द) 2400 कैलोरी की

12.11 प्रश्नोत्तर

1. (अ), 2. (स), 3. (ब), 4. (अ)

इकाई – 13
राष्ट्रीय राजनीति

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 राजनीतिक प्रणाली का अर्थ

13.3 शक्ति की अवधारणा

13.4 सत्ता का सम्प्रत्यय

13.5 राज्य राष्ट्र और समाज

13.6 भारतीय राष्ट्र, राज्य का उदय

13.7 समकालीन भारत में राजनीति का स्वरूप

13.8 राष्ट्र निर्माण में बाधक शक्तियाँ

13.9 सारांश

13.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

13.11 सम्बन्धित प्रश्न

(अ) लघु उत्तरीय प्रश्न

(ब) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(स) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

13.12 प्रश्नोत्तर

13.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- उन तत्वों को ज्ञात कर सकेंगे जो राजनीतिक क्षेत्र में शामिल हैं।
- राष्ट्र, राज्य और समाज में अंतर को समझ सकेंगे।
- भारतीय राष्ट्र और राज्य के उदय को जान सकेंगे।
- राष्ट्र निर्माण की बाधाओं से अवगत हो सकेंगे।
- समकालीन भारत में राजनीति के स्वरूप को समझ सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

राजनीति शून्य में संचालित नहीं होती। यह अपने विशिष्ट सामाजिक– सांस्कृतिक सन्दर्भों में प्रचलित होती है। इसका सामाजिक जीवन में प्रभाव क्षेत्र बढ़ता जा रहा है। इसी कारण सामाजिक सम्बन्धों की शक्ति को राजनीतिक प्रणाली भी कह दिया जाता है। इस इकाई, में राजनीतिक प्रणाली के अर्थ तथा राजनीति में शक्ति की अवधारणा को स्पष्ट किया गया है। राष्ट्र, राज्य एवं समाज के सम्बन्ध को भी स्पष्ट करते हुए भारत में राष्ट्र, राज्य के उदय पर संक्षिप्त चर्चा की गयी है। इकाई में भारतीय राजनीति के स्वरूप के विभिन्न आयामों–राजनीतिक एवं आर्थिक का विश्लेषण तथा राष्ट्र निर्माण के बाधक तत्वों की भी विवेचना की गयी है। अंततः राष्ट्रीय एकीकरण के विभिन्न पक्षों की विवेचना की गयी हैं।

13.2 राजनीतिक प्रणाली का अर्थ

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज के अभाव में व्यक्ति के जीवन की अपेक्षा नहीं की जा सकती। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति समाज के अन्य सदस्यों के संपर्क में आता है। इस दौरान उनमें आपस में अंतःक्रिया होती है तथा सामाजिक संबंध स्थापित होता है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के दौरान कभी–कभी दूसरे व्यक्तियों या समाज के हितों के विपरीत हित होने के कारण उनमें टकराव की संभावना बन जाती है। साधारणतया व्यक्ति अपने हित के लिए दूसरों के हितों को नियन्त्रित करने के लिए शक्ति का प्रयोग करते हैं इससे भी टकराव की संभावना बन जाती है।

सामाजिक संबंधों को सुव्यवस्थित रखने तथा समाज में व्यवस्था को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि टकराव को रोका जाय और विभिन्न व्यक्तियों के विभिन्न गतिविधियों में समन्वय स्थापित किया जाय। आमतौर पर ऐसा शक्ति का उपयोग करके तथा लोगों के व्यवहार पर नियन्त्रण स्थापित करके किया जाता है। लोगों के व्यवहारों को नियन्त्रित एवं समन्वित करने के लिए एक संगठन की आवश्यकता होती है जिसे राजनीतिक प्रणाली कहा जाता है। राजनीतिक प्रणाली का अस्तित्व सरल समाजों के पंचायत सभाओं से लेकर आधुनिक सुसंगठित राज्य तक, किसी भी स्तर पर हो सकता है। राष्ट्रीय स्तर पर शक्ति के विशिष्ट उपयोग को समझने के लिए यह आवश्यक है कि सबसे पहले शक्ति की अवधारणा और राजनीतिक प्रणाली से इसके संबंधों को जाना जाय। इसके बाद ही हम राष्ट्र–राज्यों से इसके संबंधों के बारे में जान सकते हैं।

13.3 शक्ति की अवधारणा

सामान्य रूप से 'शक्ति' का तात्पर्य किसी भी व्यक्ति अथवा समूह के दबाव से समझा जाता है जो अन्य व्यक्तियों अथवा समूहों पर स्पष्ट होता है। रोजर्स ने शक्ति को एक ऐसे तथ्य के रूप में स्पष्ट किया है जिसके द्वारा एक व्यक्ति दूसरे की क्रियाओं को प्रभावित अथवा नियंत्रित करता है। शब्दकोश में दी गयी परिभाषा के अनुसार, ''कुछ करने अथवा कुछ भी न करने या व्यक्ति अथवा वस्तु पर अधिकार जमाने को शक्ति कहते हैं। शक्ति का तात्पर्य उस प्रभाव से है जो कोई व्यक्ति, समूह या संगठन किसी दूसरे के कार्यों पर डालता है। इस तरह यह व्यक्तियों के व्यवहार को नियमित, व्यवस्थित, नियंत्रित अथवा निर्देशित करने की क्षमता को इंगित करती हैं। शक्ति को धारण करने वाला व्यक्ति या समूह दूसरों की इच्छा के न

होते हुए भी उन्हें अपनी इच्छा के अनुसार व्यवहार करने को बाध्य करता है और सभी निर्णय अपने ही पक्ष में करा लेने में सफल हो जाता है।

शक्ति को आपसी संबंधों का एक पहलू भी कहा जाता है जिसके कई लक्षण होते हैं–

(1) शक्ति सम्बन्ध मूलक होती है

(2) स्थितिपरक होती है

(3) शक्ति के कुछ माध्यम होते हैं।

(4) विभिन्न समुदायों में इसका स्वरूप अलग–अलग हो सकता है।

(5) यह सकारात्मक ही नहीं, नकारात्मक भी होती हैं

यद्यपि शक्ति व्यक्ति द्वारा किसी अन्य को प्रभावित करने की क्षमता है, फिर भी यह सरल व्यक्तिगत लक्षण न होकर मूलरूप से सम्बन्ध मूलक होती है। शक्ति सदैव दो या दो से अधिक कर्त्ताओं के बीच क्रियाशील होती हैं। सामान्य रूप में शक्ति व्यवहार की तुलना एवं मूल्यांकन का आधार है। उदाहरणार्थ एक धनवान के पास बहुत धन एवं साहित्यकार के पास अपार प्रतिभा हैं। इन दोनों में अधिक शक्तिशाली का निर्णय करना कठिन हो जायेगा क्योंकि ऐसी स्थिति में दोनों के गुणों में असमानता होने के कारण उनके आपसी व्यवहार का मूल्यांकन सम्भव नहीं है। इस स्थिति में किसी को भी शक्तिशालीनहीं कहा जा सकता। दोनों में शक्ति व्यक्तिगत विशेषता तो है, परंतु उनकी प्रभावित करने की क्षमता ज्ञात नहीं है।

शक्ति स्थितिपरक होती है अर्थात् कर्त्ता इसे किसी विशेष स्थिति में प्रयुक्त कर सकता है। उदाहरणार्थ, एक प्राचार्य अपनी शक्ति का प्रयोग विद्यालय प्रांगण में ही सम्बन्धित पक्षों पर कर सकता है। अतः स्पष्ट है कि शक्ति सम्बन्ध मूलक है, फिर भी इसमें स्थितियां महत्वपूर्ण हैं।

शक्ति के कुछ माध्यम होते हैं जिसके द्वारा इसके स्वरूप को प्रभावपूर्ण बनाया जाता है, जैसे– नगर पालिका, अदालतें, कचहरी, नेता आदि। विभिन्न समुदायों में इसका स्वरूप भी अलग–अलग हो सकता है जैसे कहीं अभिजात्य वर्ग की शक्ति प्रमुख रहती है तो कहीं संगठित समूहों की। कभी–कभी असंगठित लोगों द्वारा भी चुनाव आदि अवसर पर अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर दिया जाता है।

सी. राइट मिल्स ने अपनी पुस्तक 'दी पावर एलीट' में शक्ति संरचना के प्रतिमान को सकारात्मक के साथ–साथ नकारात्मक भी माना है। समाज के कुछ विशिष्ट लोग शक्ति को हथियाकर उसका दुरुपयोग करते हैं। नगरों में ऐसे प्रभावशाली लोग जनसेवा, पानी, बिजली, कार पार्किंग, बाल उद्यान जैसी योजनाओं में रोड़ा अटकाते हैं। इनका समूह इतना प्रभावशाली होता है कि नगर अधिकारियों से मिलकर ये नगर आयोजन के कार्यक्रमों को रूकवा डालते हैं। फिलीप, रोज़, मिलर आदि ने अपनी कृतियों में इनके शक्ति का उल्लेख नगरीय सन्दर्भ में किया है।

13.4 सत्ता का सम्प्रत्यय

सामान्यतः शक्ति को दो भागों में बांटा जा सकता है– 1. वैध शक्ति तथा 2. अवैध शक्ति। मैक्सवेवर के अनुसार शक्ति का वैध रूप ही सत्ता है अर्थात् जब शक्ति को सामाजिक मान्यता या वैधता

प्राप्त हो जाती है तो यह वैध शक्ति या शक्ति का संस्थागत रूप सत्ता में परिवर्तित हो जाता है। सत्ता का प्रवाह ऊपर से नीचे की ओर होता है तथा इसका आधार प्रायः आर्थिक रहता है। अतः हम कह सकते हैं कि ''दूसरों के कार्य–निष्पादन को प्रभावित करने का औचित्यपूर्ण अधिकार ही सत्ता है।

सत्ता के सम्बन्ध में विचारकों में एक मत नहीं हैं कुछ विद्वानों ने इसे व्यवहार का एक विशेष समुच्चय माना है तो कुछ ने विशेष परिस्थितियां माना है जिनमें वह व्यवहार प्रकट होता है। राजनीति में सत्ता का विशेष महत्व रहता है क्योंकि यही राजनीतिक व्यवस्था का ठोस आधार है। राजनीतिक क्षेत्र में राजनीतिक शक्ति को राजनीतिक सत्ता में बदलना पड़ता हैं किन्तु सत्ता केवल राजनीतिक ही नहीं होती। यह सामाजिक जीवन के प्रत्येक स्तर पर पायी जाती है। इसी दृष्टि से मैक्सवेबर ने सत्ता के तीन प्रकारों– वैधानिक, परम्परागत और करिश्माई सत्ता का उल्लेख किया है।

13.5 राज्य, राष्ट्र और समाज

(अ) राज्यः मैकियावेली ने राज्य की परिभाषा ऐसी शक्ति के रूप में दी है जो मनुष्यों के ऊपर सत्ता का उपयोग करता है। मैक्सबेवर ने राज्य की समाजवैज्ञानिक परिभाषा पर बल देते हुए कहा ''राज्य ऐसा मानव समुदाय है जो निर्दिष्ट भू–भाग में भौतिक बल के विधि सम्मत प्रयोग के एकाधिकार का दावा करता है।'' राज्य को एक राजनीतिक संगठन माना जाता है, जिसके निम्नलिखित तत्व होते हैं–

(i) जनसंख्या

(ii) एक निश्चित भू–भाग;

(iii) शासन व्यवस्था या सरकार

(iv) सम्प्रभुता अर्थात् राज्य की ऐसी शक्ति जिसके बल पर वह अपने भू–भाग में अपनी आज्ञाओं, कानूनों का पालन करा सकें।

(ब) राष्ट्रः प्रायः ऐसे लोगों के समूह को राष्ट्र कहा जाता है, जो एक ही प्रजाति, धर्म, भाषा, संस्कृति, भौगोलिक क्षेत्र इत्यादि के कारण निकट रूप से जुड़े होते हैं और एक जैसी राजनीतिक आकांक्षाओं तथा एक–जैसे–ऐतिहासिक विरासत के कारण एकता की भावना से प्रेरित होते हैं।

(स) समाजः समाज एक व्यापक सामाजिक संगठन है। इसके अंतर्गत परिवार, नातेदारी, अर्थव्यवस्था और शासन व्यवस्था जैसी अनेक सामाजिक संस्थाएं आ जाती हैं। सामान्यतः अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से अंतःक्रिया करता है जिसके फलस्वरूप सामाजिक संबंधों की शुरूआत होती है। संबंधों की परिधि में अनेक संगठन एवं संस्थाओं का निर्माण होता है जिनकी समग्रता को समाज कहा जाता है।

13.6 भारतीय राष्ट्र, राज्य का उदय

ब्रिटिश शासन से पूर्व भारत में अनेक छोटी–बड़ी राजनीतिक इकाइयाँ थीं। ये राजनीतिक इकाइयाँ शासितों पर अपनी सत्ता बनाये रखने और अन्य राजनीतिक इकाइयों से अपनी रक्षा हेतु संघर्षरत रहती थीं।

ब्रिटिश काल से पूर्व मौर्य, गुप्त, मुगल जैसे बड़े साम्राज्य थे परन्तु भारत कभी भी किसी राजनीतिक संगठन के नीचे संगठित नहीं हुआ था। यह नहीं माना जा सकता है कि हमारी कोई राजनीतिक राष्ट्रीय पहचान नहीं थीं। राजनीतिक रूप से एक क्षेत्रीय इकाई न होने के बाद भी ऐसे अनेक तत्व मौजूद थे, जो देश को एकता के सूत्र में बांधते थे। लोग शादी–विवाह, तीज–त्योहार, तीर्थ हेतु एक–दूसरे भागों में आया–जाया करते थे। रजनी कोठारी के अनुसार, धार्मिक, विश्वास, रीति–रिवाज और धार्मिक संस्थाएँ लोगों को एक होने की ताकत देते थे। ऐसा कहा जा सकता है कि ब्रिटिश–काल से पूर्व हमारी जो पहचान थी उसे ज्यादा से ज्यादा सांस्कृतिक एकता कह सकते हैं।

अंग्रेजी शासन काल में भारत गुलामी एवं शोषण के जाल में जकड़ा था परन्तु विरोध की साझी भावना के कारण लोगों में एक राजनीतिक एकता एक सूत्र में बँधने की संस्कृति का सूत्रपात हुआ। भारतीयों द्वारा देश से ब्रिटिश शासन की समाप्ति के प्रयासों के दौरान देश में राष्ट्रीयता का उदय हुआ।

आरम्भ से ही भाषा, धर्म, जाति, क्षेत्र आदि विभिन्न आधारों में हम विभक्त थे– लेकिन दो ऐसे कारण थे, जिन्होंने राष्ट्रीयता के विकास में सहायता दी–

1. औपनिवेशिक शासन अर्थात् ब्रिटिश शासन
2. समान सांस्कृतिक पहचान, जो भारत में बहुत समय से थी और जिसने भारत को एक राष्ट्र के रूप में संगठित होने में सहायता की। भारतीय राष्ट्र राज्य कैसे अस्तित्व में आया? स्वतंत्रता पश्चात् आधुनिक राष्ट्र राज्य का विकास किस तरह हुआ? इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता पश्चात् राष्ट्र राज्य का निर्माण पूरा नहीं हो पाया था। अपितु यह एक निरंतर जारी रहने वाली प्रक्रिया है। जिसका प्रतिबिम्ब वर्तमान राजनीति के स्वरूप में देखा जा सकता है।

13.7 समकालीन भारत में राजनीति का स्वरूप

आजादी के बाद एक प्रमुख चुनौती आधुनिक राष्ट्र के विकास का था। इसके लिए राजनीतिक स्तर के साथ–साथ आर्थिक स्तर पर भी कदम उठायें गये। राष्ट्र–निर्माण की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम लिखित संविधान को अपनाना था जिसमें धर्म, जाति, भाषा, संस्कृति इत्यादि के आधार पर सभी नागरिकों के साथ समानता को स्वीकार किया गया। साथ ही संघीय सरकार की प्रणाली को अपनाकर सत्ता केन्द्र तथा राज्यों के बीच विभाजित किया गया।

भारतीय संविधान में नागरिकों के मौलिक अधिकारों के साथ–साथ मौलिक कर्त्तव्यों का प्रावधान किया गया, जो राष्ट्र–निर्माण एवं विकास की दिशा में महत्वपूर्ण कदम था। समाजवादी सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत समाज के कमजोर एवं पिछड़े वर्ग तथा साथ ही अल्पसंख्यकों को विशेष सुविधाएं प्रदान कर राष्ट्रीयता को बढ़ावा प्रदान किया गया है।

राष्ट्र निर्माण की दिशा में आर्थिक गतिविधियों को नियंत्रित करने के लिए पंचवर्षीय योजनाओं का निर्माण एक महत्वपूर्ण कदम है। इसके लिए योजना आयोग की स्थापना की गयी है। वस्तुओं के उत्पादन एवं उपलब्धता को ध्यान में रखते हुए उनके वितरण की समुचित न्यायोचित व्यवस्था की गयी है। अनेक सामाजिक कानूनों में भी हमें वितरण न्याय के उदाहरण मिलते हैं।

13.8 राष्ट्र निर्माण में बाधक शक्तियाँ

राष्ट्रीय और क्षेत्रीय भाषाओं और बोलियों के रूप में भाषायी विभिन्नता के कारण हमारा देश अनेक क्षेत्रों, उप क्षेत्रों आदि में विभाजित है। विभिन्न क्षेत्रीय राजनीतिक दलों और समूहों द्वारा क्षेत्रीय स्वतन्त्रता के स्थान पर क्षेत्रीय संस्कृतियों की श्रेष्ठता को स्थापित करने की मांग आदि भी राष्ट्र निर्माण के मार्ग में बड़ी बाधा है।

भारतीय राजनीति के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि जाति ने उस पर पिछले कई वर्षों से अपना निश्चित प्रभाव डाला है। ऐसा प्रभाव ग्रामीण, जनपदीय, क्षेत्रीय तथा प्रान्तीय स्तरों पर अधिक विदित होता है। मायरन वीनर का तो यहां तक कहना है कि ''अनेक मामलों में राजनीतिक दल जाति के पर्याय बन गये हैं और दल के प्रत्येक सदस्य इस बात के इच्छुक रहते हैं कि दल ऐसी इकाई बनी रहे, जिसमें कोई अपरिचित या बाहर का व्यक्ति न हो।'' मारिस जोंस का विचार है कि ''हर प्रकार की राजनीति में जाति एक ऐसी शक्ति बन गयी है कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। चुनाव लड़ने के लिए प्रत्याशियों की सूची के पीछे एक आन्तरिक कथा होती है कि कौन प्रत्याशी किस जाति के कितने वोट प्राप्त कर सकेगा।'' कहने का तात्पर्य यह है कि संकीर्ण मानसिकता के रूप में जाति एक सामाजिक बुराई के रूप में अभिव्यक्त हुई हैं। समानता पर आधारित समाजवादी समाज से जाति के सिद्धांत मेल नहीं खाते हैं और इसने राष्ट्र–निर्माण की प्रक्रिया को चुनौती प्रस्तुत की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में भाषावाद, साम्प्रदायिकता, सामाजिक असमानता और क्षेत्रीय विषमताएं आदि कुछ ऐसी समस्याएं हैं जो राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधक बने हुए हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या ''राष्ट्रीय एकीकरण'' सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक असमानताओं को बिना हटाये या कम किए प्रोत्साहित किया जा सकता है? हम जानते हैं कि पूर्ण ''सामाजिक व्यवस्था कभी प्राप्त नहीं की जा सकती, क्योंकि व्यावहारिक रूप में पूर्ण रूप से एक जैसे लोग नहीं मिल सकते हैं। फिर भी, इन अंतरों के बावजूद, कम लाभान्वित और कमजोर वर्गों के लिए कुछ न्यूनतम संस्थागत उपायों और आधारभूत सुविधाओं को जुटाकर समाज के विभिन्न भागों में एकता, मैत्रीभाव और समरूपता प्राप्त की जा सकती है।

13.9 सारांश

इस इकाई में समाज के महत्वपूर्ण घटक राजनीतिक व्यवस्था के तात्पर्य को स्पष्अ करते हुए, इसके शक्ति की समाजवैज्ञानिक अवधारणा को विश्लेषित किया गया है। राष्ट्र, राज्य एवं समाज के पारस्परिक संबंधों की खोज की गयी है, तथा भारत में राष्ट्र राज्य के उदय को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत करते हुए वर्तमान भारत की राजनीति का आर्थिक एवं राजनैतिक स्तर पर विश्लेषण किया गया है। साथ ही राष्ट्र निर्माण के बाधक तत्वों–साम्प्रदायिकता, जातिवाद एवं सामाजिक असमानता की चर्चा की गयी हैं।

13.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

➢ मिर्डल, गुन्नार (1978), एशियन ड्रामा, वेल्यूम 1, पेंगुइन बुक्स

➢ किशोर, सत्येन्द्र (1987), नेशनल इन्टिग्रेशॅन इंडिया, स्टर्लिंग पब्लिशर्स, नई दिल्ली।

➢ कोठरी, रजनी (1986), पॉलिटिक्स इन इण्डिया, ओरिएंट लांगमैन, नई दिल्ली।

- जोंस, मारिस (1977), भारतीय शासन एवं राजनीति, सुरजीत पब्लिकेशन्स
- वीनर, मायरन (1957), पार्टी पॉलिटिक्स इन इण्डिया, प्रिन्सटन, न्यूजर्सी।

13.11 सम्बन्धित प्रश्न

(अ) लघु उत्तरीय प्रश्न

1. राजनीतिक प्रणाली से क्या तात्पर्य है?
2. शक्ति की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
3. राज्य का अर्थ और इसके तत्व बताइये।
4. भारत में राजनीति और जाति के सम्बन्धों को स्पष्ट कीजिए।

(ब) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. शक्ति का अर्थ और लक्षण बताइये। शक्ति सत्ता से किस तरह भिन्न है?
2. भारतीय राष्ट्र, राज्य के उदय और विकास का वर्णन कीजिए।
3. भारत में राजनीति के वर्तमान स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
4. भारत में राष्ट्र निर्माण के बाधक शक्तियों का वर्णन कीजिए।

(स) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. शक्ति एक ऐसा तथ्य है जिसके द्वारा एक व्यक्ति दूसरे की क्रियाओं को प्रभावित अथवा नियंत्रित करता है यह कथन किसका है?

   (अ) रोजर्स

   (ब) सी0डब्ल्यू0

   (स) मासिक जोंस

   (द) मायरन वीनर

2. 'दि पावर एलीट' पुस्तक के लेखक कौन हैं?

   (अ) सी0 राइट मिल्स

   (ब) रजनी कोठारी

   (स) मारिस जोंस

   (द) योगेन्द्र सिंह

3. मैक्स वेबर के अनुसार, निम्न में से कौन सत्ता का प्रकार नहीं है?

   (अ) वैधानिक सत्ता

(ब) परम्परागत सत्ता

(स) अलौकिक सत्ता

(द) करिश्माई सत्ता

4. गाँधी किस प्रकार की सत्ता के अधिकारी थे?

(अ) पारम्परिक

(ब) वैधानिक

(स) करिश्माई

(द) उपर्युक्त सभी

5. निम्नलिखित में कौन–सा राज्य का आवश्यक अंग है?

(अ) भू–भाग

(ब) जनसंख्या

(स) प्रभुसत्ता

(द) उपर्युक्त सभी

13.12 प्रश्नोत्तर

1.(अ), 2. (अ), 3.(स), 4. (स), 5. (द)

इकाई – 14

क्षेत्रीय एवं प्रादेशिक राजनीति

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 क्षेत्र, क्षेत्रीयतावाद एवं प्रदेश की अवधारणा

14.3 भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद एवं क्षेत्रीय राजनीति

14.4 क्षेत्रीय एवं प्रादेशिक राजनीति के आधार

14.5 प्रादेशिक और क्षेत्रीय राजनीति के स्वरूप

14.6 राष्ट्रीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद

14.7 सारांश

14.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

14.9 सम्बन्धित प्रश्न

(अ) लघु उत्तरीय प्रश्न

(ब) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(स) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

14.10 प्रश्नोत्तर

14.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- क्षेत्र, क्षेत्रीयतावाद एवं प्रदेश की संकल्पना को जान सकेंगे।
- भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद का विकास एवं इसके स्वरूप को ज्ञात कर सकेंगे।
- क्षेत्रवाद के विभिन्न आधारों का विश्लेषण कर सकेंगे।
- भारत में क्षेत्रीय राजनीति के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन कर सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

इस इकाई में क्षेत्र, क्षेत्रीयतावाद एवं प्रदेश की संकल्पना को स्पष्ट किया गया है तथा भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद के विषय का उद्भव तथा क्षेत्रीय दलों का विश्लेषण किया गया है। क्षेत्रीयतावाद के सामाजिक–सांस्कृतिक नृजातिय, आर्थिक एवं राजनीतिक, प्रशासनिक आधारों की चर्चा भी इस इकाई में

की गयी है। क्षेत्रीयतावाद के विभिन्न स्वरूपों, अंतर एवं बहुप्रदेश की विवेचना और भारत में इनकी स्थिति की विवेचना तथा क्षेत्रीयतावाद का राष्ट्रीयता तथा संघवाद के संदर्भ में महत्व को भी जानने का प्रयास किया गया है।

14.2 क्षेत्र, क्षेत्रीयतावाद एवं प्रदेश की अवधारणा

एक ऐसे भू–भाग को क्षेत्र कहते हैं जहां के निवासियों का धर्म, भाषा, रीति–रिवाज, सामाजिक–आर्थिक और राजनैतिक विकास की अवस्था, संयुक्त ऐतिहासिक परंपरा, रहन–सहन का ढंग इत्यादि के कारण अपने क्षेत्र से भावात्मक लगाव होता है। इन कारणों में से कोई एक या कुछ और सबसे अधिक उनमें उपस्थित निकटता की भावना इस जुड़ाव को सशक्त करती है। यह भू–भाग राज्य की सीमाओं में, सीमाओं तक या सीमाओं से बाहर एक से अधिक राज्यों में भी हो सकता है। आर्थिक, राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक आधार पर विभेद अथवा प्रतिस्पर्धा की तथा न्याय अथवा लाभ की इच्छा क्षेत्रवाद या क्षेत्रीयवाद को उभारती है। क्षेत्रीयतावाद का तात्पर्य ऐसी घटना से है जिसमें लोगों का लगाव देश की अपेक्षा एक विशिष्ट क्षेत्र के साथ बढ़ जाता है। कभी–कभी ऐसा ही प्रदेश और उसके किसी क्षेत्र विशेष के संदर्भ में भी होता है। अतः क्षेत्रवाद के विचार क्षेत्र की अवधारणा के आसपास केन्द्रित होता है। उपरोक्त कारणों और उनके स्वभाव के आधार पर क्षेत्रवाद की अभिव्यक्ति कई प्रकार से हो सकती है– राज्य के लिए स्वायत्तता अथवा शक्तियों की माँग कर, नए राज्य की माँग करके, क्षेत्रीय भाषा अथवा संस्कृति को बचाने की माँग द्वारा या देश से पृथक होने की मांग द्वारा।

प्रदेश की संकल्पना चार प्रमुख विशेषताओं, जनसंख्या, निश्चित भू–भाग, सरकार और सम्प्रभुता से बनती है। एक प्रदेश की कल्पना बिना जनसंख्या के नहीं की जा सकती है। यह मानवीय संस्था है। जनसंख्या द्वारा ही शासक–शासित व पारिवारिक संबंध, आर्थिक गतिविधियों का संगठन एवं संस्कृति का निर्माण होता है। यह जनसंख्या विविधतापूर्ण भी हो सकती है और समरूप (Homogeneous) भी। एक प्रदेश की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता निश्चित भू–क्षेत्र को माना जाता है, जिसकी एक निश्चित सीमा होती है, जो दूसरे प्रदेश की सीमा से पृथक करती हैं। राज्य का क्षेत्रीय सीमा निर्धारण का कोई सर्वमान्य नियम नहीं होते। इसमें निरंतर परिवर्तन होता रहा है। तीसरी विशेषता सरकार हैं। सरकार प्रदेश का संगठनात्मक पहलू हैं। यह जन नीतियों को बनाने और सामान्य कार्यों को सही प्रकार से करने का साधन हैं। राजनीति शक्तियों के अनुसार प्रदेश की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता, प्रभुसत्ता है। यह प्रदेश की सर्वोच्च शक्ति को लागू करती है, जो व्यक्ति विशेष अथवा व्यक्तियों की संस्था में निहित होती है।

14.3 भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद एवं क्षेत्रीय राजनीति

औपनिवेशिक काल से भारत में क्षेत्रीयतावाद बनी हुई है। भारत सरकार अधिनियम 1909, 1919 और 1935 के अन्तर्गत स्पष्ट रूप से क्षेत्रीयतावादी भावना को देखा गया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् प्रजातांत्रिक सरकार स्थापित होने पर यह विचार अधिक प्रभावी हुआ है। प्रजातंत्र, धर्मनिरपेक्षता, राष्ट्रीय एकता और सामाजिक–न्याय के सिद्धान्तों और नियमों पर राष्ट्र–निर्माण करना इसका प्रधान उद्देश्य था। देश के सभी भाग राष्ट्र–निर्माण में निष्पक्ष व्यवहार चाहते थे परन्तु विकास के लिए सभी भाग आपस में प्रतिस्पर्धा करने लगे। फलतः उत्पन्न क्षेत्रीय असंतुलन और इससे उत्पन्न भ्रांति ने क्षेत्रवाद एवं क्षेत्रीय

राजनीति को जन्म दिया। राज्यों के बीच तथा राज्यों के भीतर असमानताओं के बने रहने के कारण उपेक्षा, वंचित होने और भेदभाव की भावना जन्म लेती है। बहुजातीय और बहुधार्मिक क्षेत्र में राज्यों और क्षेत्रों में बसे समूहों के बीच ये असमानताएँ सामाजिक टकराव का कारण बनती हैं। जिससे राजनैतिक एवं प्रशासनिक समस्याएं पैदा होती हैं। प्रत्येक दशा में क्षेत्रीय असंतुलन भारत में क्षेत्रवाद का कई प्रकार से मुख्य कारण है। बिहार और पश्चिम बंगाल के झारखंड क्षेत्र, उत्तर प्रदेश के उत्तरांचल तथा मध्य प्रदेश के छत्तीसगढ़ क्षेत्रों में पृथक राज्य निर्माण के आंदोलन चले, अंत में 2001 में इन क्षेत्रों में अलग राज्य बन गया। इसी प्रकार के आंदोलन आंध्र प्रदेश के तेलंगाना क्षेत्र, महाराष्ट्र के विदर्भ क्षेत्र, पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग क्षेत्र में चल रहे हैं।

भारत जैसे देश में भाषाओं की निश्चित क्षेत्रीय सम्बन्धता है, फलतः यह राज्य गठन का आधार बनी जिससे भाषा आधारित क्षेत्रीय राजनीति का उदय हुआ है। भाषा के आधार पर 1956 में 14 राज्यों का गठन किया गया। इसके बाद भी अनेक राज्य बनाये गये जैसे– बम्बई को गुजरात और महाराष्ट्र (1960), पंजाब को पंजाब, हरियाणा (1966) में बाँटा गया। यद्यपि इन प्रदेशों को पूरी तरह भाषा के आधार पर ही नहीं बनाया गया, बल्कि अन्य प्रजातीय तथा आर्थिक कारक भी उत्तरदायी थे। भाषा (महाराष्ट्र, और गुजरात) तथा ऐतिहासिक और राजनीतिक कारण (उत्तर प्रदेश और बिहार), देशी रियासतों का एकीकरण और व्यवहार्य समूहीकरण के लिए इसकी आवश्यकता (म0प्र0 और राजस्थान), नृजातीय संचेतना (नागालैण्ड, मेघालय, मणिपुर और त्रिपुरा), तथा भाषा और सामाजिक भिन्नता (तमिलनाडू, केरल, बंगाल, उड़ीसा) के आधार पर भारतीय संघ का निर्माण हुआ।

राजनीतिज्ञों के व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण क्षेत्रीय एवं संकीर्ण प्रवृत्तियों को भारत में विशेष बल मिला है। स्वतंत्रता पश्चात् अनेक दलों का उदय क्षेत्रीय तुष्टिकरण की राजनीति के कारण हुआ, जिसका मकसद सत्ता हासिल करना रहा है। इनमें राज्यस्तरीय अथवा क्षेत्रीय दल महत्वपूर्ण हैं। राज्य स्तरीय अथवा क्षेत्रीय दलों को मुख्यतः चार श्रेणियों में बाँटा जा सकता है– प्रथम, राज्य स्तरीय पार्टियाँ है जिनका आधार सांस्कृतिक अथवा प्रजातीय है। ऐसी पार्टियाँ क्षेत्रीय हैं जिनकी रूचि एक या दो राज्यों में संस्कृति, भाषा अथवा जातीयता के नाम पर सत्ता हथियाने में होता है। इसके उदाहरण– ऑल इंडिया अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कजगम, शिवसेना, असम गण परिषद, नेशनल कांफ्रेंस, इंडियन यूनियन मुस्लिम लीग, झारखंड मुक्तिमोर्चा, मणिपुर पीपुल्स पार्टी, शिरोमणि अकाली दल, तेलगू देशम् आदि। दूसरी श्रेणी, उन पार्टियों की है जो राष्ट्रीय पार्टियों के विभाजन से बनीं। इनमें से अधिकांश पार्टियाँ 1967 के बाद कांग्रेस से बाहर हुए नेताओं द्वारा बनाई गईं, जैसे– बीजू जनतादल, केरल कांग्रेस, राष्ट्रीय जनतादल, तृणमूल कांग्रेस आदि। तीसरी श्रेणी, में वे पार्टियाँ हैं जो विचारधारा और कार्यक्रम के आधार पर राष्ट्रीय दृष्टिकोण रखती हैं तथा अखिल भारतीय स्तर पर कार्य करने का प्रयास करती हैं, परन्तु इन्हें राष्ट्रीय आधार नहीं मिल पाया। इन पार्टियों में फारवर्ड ब्लॉक, लोकदल, समाजवादी पार्टी, बहुजन समाज पार्टी आदि है। चौथी श्रेणी में ऐसी पार्टियाँ हैं, जिन्हें वास्तव में वैयक्तिक पार्टी कहा जाता है। हिमांचल विकास कांग्रेस, हरियाणा विकासपार्टी लोक शक्ति आदि ऐसी ही पार्टियां हैं।

14.4 क्षेत्रीय एवं प्रादेशिक राजनीति के आधार

भारत में क्षेत्रीय राजनीति के भौगोलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक–आर्थिक, राजनीतिक आदि विभिन्न आधार हैं जिसका विश्लेषण निम्नलिखित है–

(1) **भौगोलिक आधार**– स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् देशी रियासतों का एकीकरण किया गया और छोटी–छोटी 560 रियासतों को मिलाकर नया वृहद प्रदेश बना। इससे नागरिकों की निष्ठा पुराने राज्य एवं नवीन राज्य क्षेत्रीय संरचना में बट गयी। इसका प्रभाव राजाओं के निर्वाचन पर पड़ा। लेकिन भौगोलिक आधार अब उतना महत्व नहीं रखता जितना कि अन्य आधार।

(2) **ऐतिहासिक और सामाजिक आधार**– इसके अन्तर्गत जाति, धर्म, भाषा तथा इतिहास का विश्लेषण क्षेत्रीय राजनीति के आधार के रूप में करना उचित होगा–

(I) **इतिहास**– इतिहास में सांस्कृतिक परम्परा, लोक साहित्य, पौराणिकों और प्रतिकवाद आदि से क्षेत्रीयतावाद को समर्थन मिला। उदाहरणार्थ– तमिलनाडु में द्रविड़ कजगम (DK) और द्रविड़ मुनेत्र कजगम (DMK) और महाराष्ट्र में शिव सेना। लेकिन इतिहास को क्षेत्रीयतावाद का अकेले कारण नहीं माना जा सकता, आर्थिक और राजनीतिक कारकों ने इतिहास के साथ जुड़कर क्षेत्रीयतावाद की उत्पत्ति की है।

(II) **भाषा**– भाषा की एकरूपता सकारात्मक आंदोलन को सुदृढ़ करती है, जिससे प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से क्षेत्रीयता को बढ़ावा मिलता है। बहुत से भाषायी समूह निश्चित क्षेत्रों में जमाव के कारण अनुभव करते हैं कि यदि उनका क्षेत्र राज्य बन गया होता तो यह उनकी भाषा और संस्कृति को संरक्षित रखने और बढ़ाने का एक सशक्त साधन होता। यही नहीं तब उनकी भाषा के राज्यभाषा होने के कारण, आर्थिक गतिविधियों में उनके बेहतर अवसर प्राप्त हो जाते। ब्रिटिश शासन काल में प्रांत किसी विवेक अथवा लोकतांत्रिक विचार के आधार पर न बनाकर उन्हें सैन्य, राजनीतिक अथवा प्रशासनिक सुविधाओं के अनुरूप बनाया गया था। राष्ट्रीय आंदोलन के व्यापक रूप लेने के साथ–साथ भाषायी और सांस्कृतिक चेतना बढ़ी और इसलिए प्रांतों या राज्यों के गठन के लिए भाषायी सिद्धान्त को अपनाने की प्रबल माँग भी उठी। 1909 और 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत प्रांतीय स्वायत्तता और प्रांतीय स्तर पर अद्वर्ध उत्तरदायी सरकारों के गठन ने भाषायी प्रांतों के लिए मज़बूत आधार तैयार किया। 1920 में नागपुर अधिवेशन में कांग्रेस ने राष्ट्रीय आंदोलन को मज़बूत बनाने के लिए भाषायी आधार पर प्रांतों को मान्यता दी।

स्वतंत्रता के बाद प्रारंभ में भाषा के आधार पर राज्य संगठित नहीं थे। यह अधिकांश भाषायी समूहों को स्वीकार्य नहीं था। फलस्वरूप वहाँ आंदोलन प्रारंभ हो गए। 1952 में तत्कालीन मद्रास प्रांत के आंध्र क्षेत्र में तेलगू भाषी राज्य बनाने के लिए एक बड़ा आंदोलन हुआ। आंदोलन के दौरान एक सम्मानित नेता पोटी श्रीमुलु के निधन ने सरकार को इस माँग को मानने पर विवश किया और आंध्र राज्य बनाया गया। इसके साथ ही राज्यों के भाषायी आधार पर गठन की माँग के अध्ययन के लिए 'राज्य पुनर्गठन आयोग' भी नियुक्त किया गया जिसकी रिपोर्ट के आधार पर तथा जनभावनाओं के दबाव में 1556 में राज्यों का

पुनर्गठन किया गया। 1960 में द्विभाषी बंबई को समभाषी गुजरात और महाराष्ट्र में विभाजित किया गया। 1966 में पंजाब को हरियाणा और पंजाब में बाँटा गया।

इन विभाजनों के बावजूद प्रत्येक राज्य में बहुत से ऐसे लोग रह गए जिनकी भाषा, बहुसंख्यक वर्ग की भाषा से भिन्न थी जिसे किसी भी भाँति टाला नहीं जा सकता था। परन्तु साधारणतया राज्यों के पुनर्गठन की समस्त प्रक्रिया में विभिन्नताओं को राष्ट्रीय मुख्य धारा से जोड़ने की इच्छा अत्यधिक महत्वपूर्ण थी। विभिन्न सांस्कृतिक भाषायी समूहों ने संतोष की भावना व्यक्त की। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि आर्थिक विकास में क्षेत्रीय असमानताओं के न मिटने पर भाषायी राज्यों ने क्षेत्रवाद के लिए सरल आधार प्रदान किया।

उसी समय राजभाषा के मुद्दे ने केन्द्र–राज्य संबंधों में भी तनाव पैदा किया। अतः क्षेत्रीय असंतुलन, स्पष्ट भाषा नीति का अभाव, राजनीतिज्ञों द्वारा जन भावनाओं को वोट बैंक बनाने के लिए प्रयोग करने की इच्छा, विशिष्ट राज्यों में सांस्कृतिक, भाषायी तथा धार्मिक समूहों का जमाव, राजनीतिक एवं आर्थिक शक्तियों का केंद्रीकरण आदि मिलकर भारत में क्षेत्रवाद के उदय एवं विकास का कारण बने। काफी सीमा तक भारत जैसे बहुलवादी समाज में क्षेत्रवाद को एक स्वाभाविक घटना माना जा सकता है। मूलरूप से यह सौदेबाजी, शिकायतें अभिव्यक्त करने, असंतुष्ट इच्छाओं को उज़ागर करने और केंद्रीयकरण के विरूद्ध प्रतिक्रिया का साधन एवं प्रक्रिया है।

(III) जाति–भाषाई क्षेत्रीयतावाद का जाति से संलग्नता का अनोखा उदाहरण तमिलनाडु है। तमिल क्षेत्रीयता ने गैर ब्राह्मण आन्दोलन के फलस्वरूप लाभ उठाया। तमिल भाषी क्षेत्र की गैर–ब्राह्मण जातियाँ ब्राह्मणों के विरूद्ध शक्तिशाली, संगठित प्रहार कर सकी थीं जो अर्थव्यवस्था, समाज और राजनीति में प्रभुता का उपयोग करते हैं।

(IV) धर्म– क्षेत्रीयतावाद में भाषा के साथ धर्म का भी महत्व है। पंजाब तथा जम्मू एवं कश्मीर में धार्मिक रूढ़िवाद और आर्थिक वंचन के मिलाप से धर्म का कारक क्षेत्रीयतावाद में महत्वपूर्ण बन गया है।

(3) आर्थिक आधार– भारत एक विकासशील देश है। ऐसे में सीमित संसाधन के बल पर सभी क्षेत्रों का संतुलित विकास करना एक चुनौति है। कुछ क्षेत्र, विकास से लाभान्वित हुए तो कुछ इससे अपेक्षाकृत वंचित रहे। ऐसे में पिछड़ापन, भाषावाद एवं सांस्कृतिक पहलू से जुड़कर क्षेत्रीय राजनीति को हवा देती हैं। उदाहरणार्थ– झारखण्ड, छत्तीसगढ़, उत्तरांचल राज्य का निर्माण आर्थिक आधारों पर किया गया, जिसमें यह मान्यता रही कि पृथक राज्य बनने से इन क्षेत्रों का अधिक विकास होगा। वर्तमान के विदर्भ, तेलंगाना एवं पूर्वांचल राज्य की माँग इस आधार पर जारी है।

(4) राजनीतिक–प्रशासनिक आधार– क्षेत्रीयता का राजनीतिक– प्रशासनिक आधार, क्षेत्रीयतावाद की अभिव्यक्ति में महत्वपूर्ण है। राजनीतिज्ञ क्षेत्रीय असंतोष और अशांति की स्थिति का लाभ उठाते हैं। वे अपने व्यक्तिगत तौर पर गुट को सुदृढ़ करने वाले आधारों से, आंदोलन को जन्म देते हैं। उदाहरणार्थ– कांग्रेस की अंदरूनी खीच–तान ने आंध्रप्रदेश में तेलंगाना आंदोलन को जन्म दिया। महाराष्ट्र एवं कर्नाटक के बीच सीमा–विवाद मुख्यतः राजनीतिक एवं प्रशासनिक हैं।

14.5 प्रादेशिक और क्षेत्रीय राजनीति के स्वरूप

क्षेत्रीय राजनीति में मुख्यतः चार प्रकार के स्वरूप दिखायी पड़ते हैं–

(I) **प्रदेश स्वायत्तता के लिए माँग**– क्षेत्रवाद जब विकृत रूप ले लेता है तो पृथकतावाद का उदय होता है। भारतीय संघ से अलग संम्प्रभु प्रदेश की मांग उठती है। भारत के कुछ क्षेत्रों जैसे– कश्मीर (हर्रियत कांग्रेस), असम (बोडोलैण्ड), नागालैण्ड (NSCN) में अलगाववादी सक्रिय हैं।

(II) **अन्तर–प्रदेश क्षेत्रीयतावाद**– यह विचार प्रदेश सीमाओं के साथ संबंधित है। इसमें एक या अधिक प्रदेशों की अस्मिताएँ एक–दूसरे से प्रभावित होती है अर्थात् उनके हित एक–दूसरे से प्रभावित होते हैं। उदाहरणार्थ–राज्यों के बीच नदी जल विवाद, सीमा क्षेत्रविवाद ऐसे विषय हैं, जिससे प्रभावित राज्यों में क्षेत्रीय राजनीति को हवा मिलती हैं। बबली परियोजना, (महाराष्ट्र–आंध्रप्रदेश), कावेरी जल विवाद (कर्नाटक– तमिलनाडु) एवं बेलगाम क्षेत्र (कर्नाटक–महाराष्ट्र) के संबंध में राज्यों में विवाद हैं।

(III) **अन्तःप्रदेश क्षेत्रीय राजनीति**– इस प्रकार की क्षेत्रीयता, किसी राज्य की सीमा के अन्दर उत्पन्न होती है जिसका आधार भाषा, धर्म, जाति एवं आर्थिक विकास कुछ भी हो सकता है। महाराष्ट्र में विदर्भ, गुजरात में सौराष्ट्र, आंध्रप्रदेश में तेलंगाना, पश्चिम बंगाल में दार्जिलिंग की मांग इस उप–क्षेत्रीयतावाद के उदाहरण हैं।

(IV) **बहु–प्रदेश क्षेत्रीयता**– यह ऐसी क्षेत्रीय राजनीति है जिसमें एक से अधिक राज्य सम्मिलित होते हैं। यह कुछ प्रदेशों की सामूहिक अस्मिता को अभिव्यक्त करती है। समूह अस्मिता प्रायः कुछ विशिष्ट मुद्दों के सम्बन्ध में होती है। इसका किसी भी तरह से यह अभिप्राय नहीं है कि प्रदेशों की अस्मितापूर्ण तथा स्थायी रूप में समूह की अस्मिता में घुल जाये। किसी समूह के कुछ प्रदेशों के बीच ये प्रतिस्पर्धा, तनाव और संघर्ष प्रायः उत्पन्न हो जाते हैं। दक्षिण और उत्तर भारत के बीच भाषा तथा उद्योगों के स्थान निर्धारण के विषय को लेकर उत्पन्न विवाद, उत्तरपूर्व भारत के राज्यों का आर्थिक विकास एवं नृजातियता को लेकर शेष भारत में विवाद, बहुप्रदेश क्षेत्रीयतावाद को स्पष्ट करते हैं।

14.6 राष्ट्रीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद

सामान्यतः क्षेत्रीयतावाद को विघटनकारी शक्ति के रूप में देखा जाता है तथा इसे राष्ट्रीय एकीकरण में बाधक माना जाता है, लेकिन इसके दूसरे पक्ष को भी ध्यान देना आवश्यक है। क्षेत्रीयतावाद, राष्ट्रीय एकीकरण एवं लोकतांत्रिक संघवाद को बढ़ावा देने में सहायक है। इसे निम्न बिन्दूओं में स्पष्ट किया जा सकता है–

(I) क्षेत्रीयतावाद तथा राष्ट्रीय एकीकरण दोनों ही विकास को महत्व देते हैं। क्षेत्रीयता क्षेत्र के विकास पर तो राष्ट्रीय एकीकरण, पूरे राष्ट्र के विकास पर जोर देता है। पूरे क्षेत्र का विकास एक समान स्तर तक तभी हो सकता है जब पिछड़े राज्यों या क्षेत्रों में विकास पर विशेष ध्यान दें। ऐसे में क्षेत्रवाद, पिछड़े क्षेत्रों के संदर्भ में विचार–विमर्श का विषय उपलब्ध कराता है।

(II) क्षेत्रीयतावाद, राष्ट्रीयता को खंडित नहीं करता क्योंकि एकात्मकता के लिए महत्वपूर्ण शर्त हैं कि राष्ट्रवाद विभिन्न प्रकार की क्षेत्रीय उप–राष्ट्रीयताओं पर अपना नियंत्रण रख सके। यह क्षेत्रीय अस्मिता के विषयों को उचित स्थान देकर ही संभव हो सकता है।

(III) क्षेत्रीयतावाद, संघवाद को अधिक सफल बना सकता है। इस तरह से क्षेत्रीय अस्मिताओं की बढ़ोत्तरी समस्या नहीं बन पाएगी। यह स्वाभाविक है कि क्षेत्रीय समुदाय जो अपनी विशिष्ट संस्कृति के प्रति सचेत है, उन्हें संघीय सरकार के साथ अधिक समान साझेदारी के आधार पर व्यवहार करना चाहिए। इससे राष्ट्र में केन्दीय प्रवृत्तियाँ कम होंगी और सत्ता केन्द्र से राज्यों की ओर गतिशील होगी।

14.7 सारांश

क्षेत्रीय और प्रादेशिक राजनीति के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित इस इकाई के वर्णन में सर्वप्रथम क्षेत्र, क्षेत्रीयता एवं प्रदेश के अर्थ को स्पष्ट किया गया है। तदोपरान्त भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद के बढ़ते स्वरूप और क्षेत्रीय दलों की स्थिति का उल्लेख किया गया है। क्षेत्रवाद को प्रेरित करने वाले सामाजिक–सांस्कृतिक (भाषा, जाति, धर्म एवं नृजातियता), आर्थिक तथा राजनैतिक–प्रशासनिक आधारों का भी विश्लेषण किया गया हैं। भारत में क्षेत्रीयतावाद के विभिन्न स्वरूपों के विश्लेषण के साथ ही क्षेत्रीयतावाद राष्ट्रीयता में किस तरह बाधक और किस तरह संघवाद एवं राष्ट्रवाद में यह सहायक है, स्पष्ट किया गया है।

14.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

- चन्द्र, विपिन, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी, 2003, आजादी के बाद का भारत (1947–2000) हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।
- मजीद, अरवतन, 1984 रीजनेलिज्म डैवलैपमैण्टल टैन्शन्स इन इण्डिया, कॉसमो पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।

14.9 सम्बन्धित प्रश्न

(अ) लघु उत्तरीय प्रश्न

1. क्षेत्र और क्षेत्रीयतावाद क्या है?
2. प्रदेश की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
3. क्षेत्रीयतावाद के सामाजिक आधारों का वर्णन कीजिए।

(ब) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद के विकास का वर्णन कीजिए।
2. भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद के विभिन्न आधारों को स्पष्ट कीजिए।
3. भारत में प्रादेशिक एवं क्षेत्रीय राजनीति के विभिन्न स्वरूपों की व्याख्या कीजिए

(स) वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्नलिखित में से कौन प्रदेश का आवश्यक अंश नहीं है?

   (अ) सरकार

   (ब) प्रभुसत्ता

   (स) जनसंख्या

   (द) धर्म

2. क्षेत्रीयतावाद का अर्थ है–

   (अ) एक सीखा हुआ व्यवहार

   (ब) क्षेत्रीयता की श्रेष्ठता पर बल देना

   (स) संकुचित दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति

   (द) उपर्युक्त सभी

3. क्षेत्रीयतावाद की प्रक्रिया को रोका जा सकता है–

   (अ) युद्ध से

   (ब) साम्प्रदायिकता से

   (स) जातिवाद से

   (द) सन्तुलित आर्थिक विकास से

14.10 प्रश्नोत्तर

1. (द), 2. (द), 3. (द)

Notes